नमोत्थुणं समणस्स भगवओ णायपुत्त महावीरस्स

स्वतन्त्रताके चार द्वार



सम्पादक—

ज्ञातपुत्र महावीर जैन-सघीय मुनि श्रीफकीरचन्द्रजी

महाराज का चरण सेवक

"पुप्फ भिक्खु"

प्रकाशक—

"मुमुक्षु"

वीराब्द २४६१ } प्रथम संस्करण { ई० सन् १९३७

वि० १९९४ } { अमूल्य भेंट

॥ ॐ ॥

नमो थुणं समणस्स भगवओ णायपुत्त महावीरस्स।

स्वतन्त्रताके चार द्वार



व्रत द्वार

निश्चयज्ञान मोक्षका कारण है, इस ज्ञानको पाकर जीव विरति को प्राप्त करता है, उसीको चरित्र कहते हैं, क्योंकि ज्ञानका फल वैराग्य, त्याग और संयम है, और वह मोक्षका तात्कालिक कारण है।

इसमें प्रथम व्यावहारिक चरित्र महाव्रत और अणुव्रत रूप है, और वह पुण्यबंध तथा सुखका कारण है, इसका स्वीकार और पालन अभव्य जीव भी कर सकता है, जिससे वह मात्र देवगतिको ही प्राप्त कर सकता है मगर सकाम निर्जराका कारण नहीं हो सकता, यदि कोई यह शंका करे कि जब मोक्षका कारण भूत ही नहीं है तब इतना कष्ट सहना क्या अर्थ रखता है? इसका समाधान देते समय इतना ही न्याय ले लेना चाहिये कि—जो त्यागबुद्धि निश्चयज्ञान सहित चरित्र है वह ही मोक्षका कारण है अतः निश्चय चरित्र सहित व्यवहार चरित्रका पालन करना चाहिये।

निश्चय चरित्र—जो मुमुक्षु शरीर, इन्द्रिय विषय, कषाय योग इन सबको परवस्तु समझ कर त्याग देता है, तथा आहारको पुद्गल वस्तु समझकर छोड़ देता है क्योंकि आत्मा अनाहारक है अतः मुझे भी आहार न करना चाहिये। इस भांतिका तप निश्चय-चरित्रमें सम्मिलित है।

चरित्र क्या है ?—जिस पुरुषार्थसे मनकी चंचलता चली जाती है, परिणामोंमें आत्मिक स्थिरता आ जाती है, आत्म स्वरूपमें एकरूपसे रमण करता है, उस रमणकी तन्मयता स्वरूप विश्रान्ति तत्त्वानुभवको चरित्र कहते हैं। वह चरित्र देशविरति और सर्वविरतिके रूपसे दो प्रकारका है। परन्तु यहां देशविरति रूप चरित्र साधन रूप जो कि श्रावकके १२ व्रत हैं उनका निश्चय और व्यवहारसे ज्ञानी जन इस प्रकार व्याख्या करते हैं।

(१) प्राणातिपात विरमण व्रत

इस व्रतमें पर जीवोंको अपने समान समझा जाता है, सब जीवोंपर समान भावसे दया की जाती है, और यह व्यवहार दया है, अतः इसे व्यवहार प्राणातिपात विरमण व्रत जानना चाहिये। और जब अपना जीव कर्मके वशमें पड़कर दुःखी होता है उसे अपने ज्ञानसे कर्मबंधसे मुक्त करना और आत्मगुणकी रक्षा करते हुए गुणकी वृद्धि करना स्वदया है, बंध हेतु परिणतिका निवारण करते हुए स्व स्वरूप गुणका प्रगट करना, प्रगटित गुणकी

सम्यक् रक्षा करना अर्थात् ज्ञान द्वारा मिथ्यात्वोंको हटाकर आत्मीयत्वको निर्मल करना निश्चय प्राणातिपातविरमण व्रत कहलाता है।

सार—ऐसा यत्नपूर्वक कार्य करो, वचन बोलो और विचार करो कि जिससे किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्वको कष्ट न पहुचे, अथवा कमसे कम भूतोंको कमसे कम कष्ट भी न हो।

(२) मृषावादविरमण व्रत

असत्य वचन कभी न बोलना चाहिये, यह व्यावहारिक मृषावाद विरमणव्रत है, और निश्चय दृष्टिसे परपुद्गलादिक वस्तुओंको अपना कहना मृषावचन है, और जीवको अजीव कहना तथा अजीवको जीव कहना यह सब अज्ञान जाल और भावमृषावचन है। अथवा सिद्धान्तके अर्थोंको उल्टा और असत्य कहना जिससे अहिंसाके बदले हिंसा बन जाय यह भी भावमृषा है। इत्यादि मृषा भाषण करना जिसने त्याग दिया है वह निश्चय मृषावादविरमणव्रत कहलाता है, इस दृष्टिसे व्यावहारिक अदत्तादानादिका भग यदि प्रमादसे हो जाय तब भी उसका मात्र चरित्र भग होता है परन्तु उसके ज्ञान दर्शनका भग नहीं होता। और जिसने निश्चय मृषावाद-विरमणका भग कर लिया हो उसने सम्यक्त्व तथा ज्ञान और चरित्र इन तीनों ही का भग कर दिया। तथा आगमोंमें यह भी कहा है कि एक साधुने चतुर्थ व्रतका भग कर दिया है और एक साधुने दूसरा मृषावाद नामक महाव्रत उत्सूत्र अर्थात् हिंसामें धर्म बताकर

रस भरा कर दिया है। सत जिसने चौथा व्रत भग किया है वह तो आलोचना द्वारा शुद्ध हो सकता है परन्तु जिस असत्यभाषीने सिद्धान्तका अथवा मृषा और मायाका उपदेश किया है वह आलोचना द्वारा भी कभी शुद्ध नहीं होता।

भावार्थ—जिस बातको तुम जिस रूपमें जानते हो, मानते हो, वही बात उसी रूपमें कहना चाहिये। लालच के वश उस बातको हेर-फेर न करो, लोकभय, नैतिक निर्बलता, लोकैषणा इन सबको गहरे और सूने कुएँ में फेंक दो। इसी प्रकार हँसी, मसखरी, परनिन्दा, निरर्थक झूठी गपशप आदि हानिकारक या अनुत्पादक प्रवृत्तिमें अपने वचनका कभी दुरुपयोग मत करो।

(३) अदत्तादानविरमण व्रत

जो पुरुष कभी किसी अन्यका धन, अन्यकी वस्तुका छिपाता है, हड़पना चाहता है, चोरी करता है, दगाबाजी करता है, धोखा देता है, यह सब चोरी है। अत पर वस्तुको स्वामीकी आज्ञाके बिना न लेना यह सब व्यवहारसे अदत्तादान-विरमण व्रत जानना चाहिये, और जो पाँचों इन्द्रियोंके २३ विषय हैं, आठ कर्मवर्गणा हैं, इत्यादिक इन परवस्तु पुद्गल प्रवृत्ति न करनी चाहिये। न कभी उनकी वांछा ही करनी चाहिये। क्योंकि यह आत्माके लिये अग्राह्य है, अत यह निश्चय अदत्तादानविरमण व्रत कहलाता है। यदि कोई कहे कि—विषय और कर्मकी वांछा कौन करता है? उस तो भगवन्ना ही पारय है

परन्तु वह उस पुण्यको अत्यन्त आदरणीय समझते हैं, मानो व जीव कर्मकी वाञ्छा कर रहे हैं। क्योंकि जिस पुण्यके ४२ भेद हैं वे नामकर्मकी शुभ प्रकृति हैं। अत जो व्यवहारमें तो अदत्तादान नहीं लेता है परन्तु अन्तरंगमें पुण्यादिककी इच्छा रहनेके कारण उसे निश्चय अदत्तादानका दोष लगता है।

भावार्थ—जिस वस्तुपर, जिस मनुष्यपर, जिस अधिकार पर, जिस यश पर, जिस दुस्साहसपर तुम्हारा उचित अधिकार न हो उस वस्तु, मनुष्य यश, अधिकार, साहसके ऊपर दांत मत रक्खो और किसीके हक्कपर कभी प्रहार मत मारो।

(४) मैथुनविरमण व्रत

जो पुरुष परस्त्रीका त्याग करता है, तथा जो स्त्री परपुरुषका परिहार करती है, साधु सर्वथा त्यागी है, और गृहस्थको विवाहितका आगार है। परस्त्री या परपुरुषका सर्वथा त्याग है वह व्यावहारिक मैथुनविरमण व्रत कहलाता है और जिसने विषयकी अभिलाषाका तथा ममता-तृष्णाका त्याग किया है परभाव-विभाव वर्णादिक परद्रव्यका स्वामित्व छोड दिया है पुद्गलका सग अभोगी है, आत्माके निज गुण जो ज्ञानादिक हैं उन्हींका उपभोग करता है, पुद्गल-स्कन्धोंको अनन्तानन्त जीवोंकी झूठन समझ कर उसको कभी भूलकर भी नहीं भोगता है। इस त्यागको निश्चयसे मैथुनविरमणव्रत कहा है। परन्तु जिसने बाह्य विषय छोड दिये हो और अन्तरगका प्रलोभन न छूटा हो तब उसे मैथुनकर्म अवश्य लगता है।

भावार्थ—तुम्हें जो वीर्य मिला है उससे अपनी तथा औरोंकी अनेक प्रकारकी उन्नतिके साधनके लिये प्रयत्न करना सबसे पहला और अनिवार्यसाधन है। उसे पाशवृत्तिके सन्तोषके लिये न उड़ा देना चाहिये। उच्चकोटिके आनन्दको पहचानना सीखो। यदि हो सकता हो और तुमको उचित ज्ञात हो तो अखंड ब्रह्मचारी बन कर भी रहो। यदि यह न हो सके तो तुम्हारे विचारके लिये विघ्नरूप न हो ऐसी सुशीला सहचारिणीकी तलाश करके उसके साथ संयमसे सन्तुष्ट रहो, एक दूसरेके लिये अनुकूल और सहायकारी हो सके ऐसा पात्र न मिल सके तो अविवाहित रहनेकी पूर्ण चेष्टा करो, विवाहित स्थिति यह है जिससे आपके चारों ओरसे उड़नेवाली वृत्तियाँ रुक सकें, या उनका संकोच हो जाय। यदि वह स्थिति दोनोंको या दोनोंमेंसे एकको असन्तोषका कारण हो पड़े तो उल्टा हानिकर सिद्ध होनेकी सम्भावना है। अतः तुम्हारी शक्ति विचार, स्थिति साधन और पात्रकी योग्यताका तुम्हें स्वयं इन सबका गहरा विचार करके विवाह करना या कुमार रहना चाहिये। विवाह करना मनुष्यका मुख्य नियम और कुमार रहना अपवाद माना गया है। इसके बदले कुमार रहना और मनकी सब या मुख्य विषयोंकी अनुकूलता हो तब ही विवाह करना इस मुख्य नियमको मान्य रखना चाहिये और विवाहित स्थिति या विषयवासनाकी मर्यादा इच्छानुसार स्वतन्त्रताके रूपमें भूलचूक कर भी न मान बैठना। वासनाका संक्षेप और हृदयमें आत्मिक ऐक्य करना सीखो। अश्लील शब्दोंसे

अश्लील दिखाव और बनावसे तथा अश्लील कल्पनाओंसे सदैव अलग रहो। किसीको लग्न या विवाहमें जोर देनेका तुम्हें क्या हक है। विवाहके भावको न समझनेवाले सहचारीपनके कर्तव्यको न पहचाननेवाले पात्रोंको एक दूसरेके कर्तव्यकी गुलामीमें फंसनेवाला चौथे व्रतका अवश्य भंग करता है। दयाका खून करता है और चोरी करता है।

(५) परिग्रह परिमाण व्रत

परिग्रह धन, धान्य, दास, दासी, द्विपद चतुष्पद, भूमि, वस्त्र आभरणादि हैं, इसका साधुको तो सर्वथा त्याग होता है। परन्तु श्रावकको इच्छाका परिमाण अवश्य करना होता है। जितनी इच्छा होती है उतना आगार रखता है। शेषकी विरति करता है। इसका यह त्याग व्यवहारसे जानना चाहिये, और जो भावकर्म राग, द्वेष, मोह और अज्ञान आदि हैं, तथा द्रव्यकर्म ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म और शरीरादि हैं इनका परिहार करना यानी कर्मको जान बूझ कर छोड़ना निश्चयपरिग्रहत्याग कहलाता है। अर्थात् पर वस्तुकी मूर्छाका छोड़ना आवश्यक है जिसने मूर्छाभाव छोड़ दिया हो समझो कि उसने परिग्रहको ही छोड़ दिया।

भावार्थ—परिग्रह अर्थात् प्रभुत्व-मिलकियतकी इच्छाका संकोच करो। 'सब कुछ मैं भोग लूं' मैं ही करोड़पति बन जाऊं, मैं महलोंका स्वामी बन जाऊं, ऐसे अहंमय, स्वार्थमय, संकुचित विचारोंको यथाशक्य एकदम कम करो।

इस भावनाको और शिक्षाका यह आशय नहीं है कि—तुम नग

फिरा, घरबार छोड़कर • यत्रतत्र वन आओ, भूखे मरो, कुटुम्ब, जाति, देश, समाजका भरण पोषण ही न करो, और उन्हें या हो दुःखी होकर मरने दो, यह नहीं बल्कि लोभ प्रकृति, मोह प्रकृति, ममत्वभाव, जड़ प्रकृतिमें या जड़ प्रकृति तथा पदार्थोंकी प्राप्तिमें आनन्द मानना छोड़ो। इन सब विनाशशील वस्तुओंको छोड़कर प्रामाणिक बुद्धिपूर्वक सहनशीलता पूर्वक, व्यवस्था पूर्वक, यथोचित उद्यमसे मिलनेवाले धनके द्वारा अपने आश्रितोंकी आवश्यकताएँ पूर्ण करनेमें खर्च करनेके अतिरिक्त, उस धनपर मोह ममता न रखकर बाकीका भाग औरोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेमें तथा देश रक्षामें उल्लासके साथ उसका खर्च करो, परिग्रहके ऊपर जितने प्रमाणमें मूर्छा कम होगी उतनी ही चित्त शान्ति अधिक होगी।

(६) दिशिपरिमाण व्रत

छहों दिशाओंमें क्षेत्रोंकी मर्यादा करना व्यवहार दिशि प्रमाण कहलाता है, और चार गतिमें भटकना कर्मका परिणाम है, यह समझकर उस कर्म सचयका ओरसे उदासीनता स्वीकार करना और सिद्धावस्थाकी उपादेयताका लक्ष्य करना निश्चयदिशिपरिमाणव्रत है।

भावार्थ—आशय बिना, उपयोग बिना, परमार्थ रहित भ्रमण करना यथाशक्य एकदम कम कर देना चाहिये।

(७) भोगोपभोगपरिमाण व्रत

जो एक बार भोगनेमें आता है वह भोग और पुन पुन

वस्तुका भोगना उपभोग है इसका परिमाण करना व्यवहार भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। व्यवहार नयसे कर्मका कर्ता और भोक्ता जीव है और निश्चयनयसे तो कर्मका कर्ता कर्म ही है। आत्मा अनादि कालसे परभावका भोक्ता हो रहा है, जिससे परभाव ग्राहक और परभाव रक्षक बन गया। अर्थात् आत्माकी ज्ञायकता, ग्राहकता, भोग्यता, रक्षकता, बिगड़नेपर कर्तापन बिगड़ गया, तब पर भावका कर्ता हो गया। जिससे परभावके रागमें रंगकर आठ कर्मका कर्ता हो गया है। परन्तु सत्ताकी अपेक्षासे तो स्वभावका कर्ता है, परन्तु उपकरणोंपर आवरण होनेके कारण स्वकार्य नहीं कर सकता, और विभावको करता आ रहा है। अज्ञानतासे जीवका उपयोग पुद्गलमें मिला है। अपने ज्ञानादि गुणका कर्ता और भोक्ता है ऐसा स्वरूपानुयायी परिणाम निश्चयभोगोपभोगपरिमाणव्रत कहलाता है।

भावार्थ—उपभोग और परिभोगकी लालसा मर्यादित करो, दिन रातकी टेवोंमें सादगी पेश करो, आत्म-संयमी बनो, नियमित और मिताहारी बनो। तुम्हारी जितनी आवश्यकताएं कम होंगी, तुम्हारी उतनी ही चिन्ता, उपाधि और लालच भी कम होगा, और अधिक महत्वकी प्रवृत्तिको और लक्ष्य देनेका पूर्ण अवकाश मिलेगा। ऐश-आराम, खानपानीके झूठे ख्यालोंसे, बड़प्पन दिखानेकी मूर्खता युक्त लोलुपतासे अच्छा दिखनेकी लालसासे और गुणदोष समझनेकी बुद्धिके अभावसे अनेक अनावश्यक चीजें उत्पन्न हो जाती हैं,

और व शारीरिक निर्बलता, मानसिक अधमता और बुद्धिहीनता पैदा कर डालती है। अतः उपभोग परिभोग पदार्थ आवश्यक उपयोगी यानी, उपयोगके सिद्धान्तको निभाना यथार्थ व सच्चे व्रत का रक्खो अधिक न रक्खो।

(८) अनर्थदण्डविरमण व्रत

बिना काम जीवका वद्ध करना, औरोंके लिये आरंभ प्रमुख करनेकी आज्ञा आदि देना व्यवहार अनर्थदण्ड है, और शुभाशुभ कर्म, मिथ्यात्व, अविरति कषाय योगसे जो बंधन होता है उनको जीव अपना कर मानता है यह निश्चय अनर्थ दण्ड है।

भावार्थ—अर्थरहित, प्रयोजन रहित, 'व्यापारमें' प्रवृत्तिमें मन, वचन, कायको प्रवर्तित न होने दो, रसदण्ड, निन्दा, दुर्ध्यान चिन्ता, कुतर्कतोड़, भय, भूख आदिमें शरीर-सम्पत्ति, धन सम्पत्ति, समय-सम्पत्ति तथा संकल्प सम्पत्तिको उड़ा मत दो, आर्तध्यान अथवा चिन्ता और रौद्रध्यान अथवा किसीपर क्रोधमय विचार करना निर्बलतापूर्ण और निकृष्ट है। आनन्दमय, वीरत्वमय, आत्म प्रभुका द्रोह करनेके समान है, इससे मनुष्यत्वकी क्षीणता हो जाता है।

(९) सामायिक व्रत

मन, वचन, कायको आरंभसे हटाकर उनको निरारंभ रूपमें लगाना 'व्यवहारसामायिक' है, और जो चावका ज्ञान, दर्शन, चारित्रका गुण विचारता है सब जीवोंका सत्ता और गुण समान जानकर मनसे सम परिणामका रखना 'निश्चय सामायिक' है। और वह समतारूप है।

भावार्थ—प्रति दिन नियमित समयपर जितना हो सके उतने समय तक लिये समतोलन वृत्ति सीखनेका अभ्यास करना चाहिये।

(१०) देशावकाशिक व्रत

मन वचन और देह योगको एक स्थानपर नियुक्त करके एक स्थानपर बैठकर धर्म-ध्यान करना व्यावहारिक देशावकाशिकव्रत है, और जो श्रुतज्ञानके द्वारा छहो द्रव्योंको पहचानकर उनमेसे पाच द्रव्योंको पर समझ त्यागकर देना और स्वभावका चिन्तवन करना निश्चयदेशावकाशिक है।

भावार्थ—स्वदेशके बाहरके पदार्थ, वस्तु यथाशक्ति काममे न लो, स्वदेश-प्रेम और स्वदेशाभिमान सदैव रक्खो। अपने देशको भूखसे तड़फा तड़फा कर मारनेमे आप साधनभूत मत बनो।

(११) पौषध व्रत

चार पहर अथवा आठ पहर तक समताभाव और शुभ परिणामसे सावद्य (पाप) कर्मको छोड़कर निरारंभतासे स्वाध्याय और ध्यानमे लगे रहना व्यवहार पौषध है और अपने आत्माको ज्ञान ध्यानसे पोषकर स्व स्वभावमे स्थिर करना 'निश्चयपौषधव्रत' है। अपने गुणोंमे जीवकी पुष्टि करना ही पौषध है।

भावार्थ—प्रत्येक मासमे छह चार या इससे अधिक जब भी आपको अवकाश मिले, तथा अनुकूल शारीरिक, मानसिक स्थिति होनेपर भूखे रहो, पर पदार्थ खानेकी आदत छोड़ो। जिससे आपका

शरीर निरोगी और सहनशील बन सके। इस स्थितिमें २४ घंटे या २१ घंटे आत्म रमणतामें व्यतीत करो।

(१२) अतिथिसंविभाग व्रत

पौषधके पारणके दिन अथवा सदा सर्वदा साधुको तथा सहधर्मी भाइयोंको या उचित पात्रको अपनी शक्तिके अनुसार दान देना व्यवहार अतिथिसंविभाग है, और अपने जीवको अथवा शिक्षापात्रको ज्ञान दान देना, पढ़ना पढ़ाना, सुनना-सुनाना निश्चय अतिथिसंविभाग व्रत है। इन व्रतोंको जो निश्चय और व्यवहारसे धारण करता है वह पांचवें देशविरति गुणस्थानपर आरोहण होता है। और आत्माकी उपासनामें योग्य होनेसे 'श्रमणोपासक' भी कहलाता है।

भावार्थ—उपकारी पुरुषोंकी सेवा भक्ति करनेका प्रसंग मिलनेपर उल्लास उनकी सेवा करो। जो पुरुष अनन्य उपकारमें ही अपना जीवन बिता रहे हैं, जिन्हें अपने शरीरकी सार संभाल करने जितनी भी फुरसत नहीं है। उनके अस्तित्व, आरोग्य और प्रवृत्तिकी संसारको अधिक आवश्यकता होनेके कारण उनकी हाजत जानना और उन्हें पूर्ण करनेमें तत्परता बताना भी उपकृतवर्गका मुख्य कर्तव्य है। उनके उठाये हुए मिशनोंको निभानेके लिये अपना शारीरबल धनबल, कर्तव्यपरायणताबल, स्वयंबल, समय, बुद्धि आदिकी सहायता भी जानसे देनी चाहिये। उनकी कठिनाई और दुःखों तथा संकटोंमें सहानुभूति पूर्वक उन्हें दूर करनेके लिये यथाशक्य

बड़ी भारी सहायता करनी चाहिये, और उनकी जयमें अपना जय तथा समाजका जय मानना चाहिये। यह स्वतन्त्रताका पहला व्रत द्वार है।



सत्य

जो पुरुष केवल आत्मानन्दमें ही अहर्निश रमण करते हैं, उनको त्रिकाल वन्दना है।

इस अलौकिक विश्वके सुरम्य और सौन्दर्यपूर्ण दृश्यकी ओर दृष्टि फैलानेपर स्पष्टतया नजर आता है कि—अखिल विश्व आनन्दमय परिपूर्ण है। अर्थात् अखिल विश्वमें आनन्दकी अपेक्षासे एकता है। जगत्‌से उसका धर्म भिन्न नहीं है विश्वके प्रत्येक प्राणी आनन्दमय हैं उन्हें आनन्द ही प्रिय है। अतः उसीकी इच्छामें तन्मय हैं। उस आनन्दको प्राप्त करनेके लिये साधन रूप ही जितने धर्म हैं और उन धर्मोंको प्राणियोंने अपने 'आनन्द' के लिये ही उत्पन्न किये हैं और आनन्दकी अपेक्षा जगत्‌के सब प्राणी समान हैं। तथापि व्यक्तिकी अपेक्षासे यदि देखा जाय तो मनुष्य एक उत्कृष्ट प्राणी है और वह आनन्दकी अभिवृद्धिके लिये अनेक आकर्षक एवं सुरम्य उपायोंकी रचना करता रहता है। मनुष्यके रचे हुए आत्मानन्दकी अभिवृद्धिके उपायोंमें धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट उपाय है। प्रत्येक प्राणीके आनन्दका स्वरूप समान है। प्रत्येक प्राणीके आत्माका सामर्थ्य समान है। प्रत्येक प्राणीका वास्तविक स्वरूप भी समान है। तब तो इस अपेक्षामें साधन रूप धर्मोंका होना भी समान ही ठीक है, और उसके अनुसार सम्पूर्ण समान ही है।

मनुष्य कुछ ऐसा प्राणी है कि—वह आत्मानन्दकी अभिवृद्धि बहुत जल्दी कर सकता है। इतना ही नहीं बल्कि जो जो मनुष्य आत्मानन्दका अनन्त अनुभव प्राप्त कर चुके हैं वे व मनुष्य अपने पीछेकी अर्थात् भविष्यकी मनुष्य जातिके लिये पाया हुआ आत्माका साधन रूप धर्म भूतलवासी मनुष्य जातिके लिये स्मारक रूपमें छोड़ गये हैं। उस धर्म रूपी उपकरण या साधन द्वारा इतर मनुष्य आत्मानन्दके अलौकिक आनन्दरसको प्राप्त कर सकते हैं। जगत्के अन्य प्राणी इस प्रत्यक्ष विश्वकी अलौकिक प्रभासे आनन्दित होते हैं। परन्तु मनुष्य संज्ञाका प्राणी तो स्वयं निजानन्दमय बन कर उस अपने आनन्द द्वारा अखिल विश्वके अप्रतिम आनन्दमें सुरम्य तथा उपादेयकी अभिवृद्धि कर सकता है। मनुष्योंका जो धर्म है वही अलौकिक आनन्दकी अभिवृद्धि बानगी रूप है। यह सृष्टि अनन्त कालसे अनन्ततत्त्वके रूपमें ज्योंकी त्यों चली आ रही है, और ध्रुव रूपसे अपने अनन्त तत्त्वमें अनन्त तत्त्व रूपसे अलौकिक स्वरूपमें अनन्त काल तक शाश्वत स्वरूपमें ही—सत्य स्वरूपमें ही अलौकिक आनन्द रूपसे स्थिर और नित्य रहेगी। सृष्टि मीमांसक शास्त्री भी यही कथन करते हैं कि यह सृष्टि अलौकिक वस्तु है, और यह नित्य तथा शाश्वत है।

इस सृष्टिके अलौकिक सामर्थ्योंसे भरपूर अलङ्कारोंमें धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट अलङ्कार है। जगत्में धर्ममीमांसक अनेक हो हो गये हैं, और वे अलौकिक अलङ्कार रूपसे अपने धर्मविचाररूप प्रसादीसे इस भूतलको अलंकृत कर गये हैं। इन अलौकिक

प्रामाणियोंमें इस समय—वेदान्त, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, शैव, वैष्णव, स्वामीनारायण, मुस्लिम, इसाई, यहूदी, पारसी आदि मुख्यतासे दृष्टिगोचर होते हैं। इनका तथा इनके अतिरिक्त और और अनेक धर्मावलम्बियोंका हेतु केवल आत्मानन्दका ही प्राप्त करना है। सर्व धर्मोंका हेतु एक होकर उनके साधन भी एक ही हो जाते हैं, और वे अलग अलग देश कालपर आधार रखकर अलग अलग रूपोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं। जिनका हेतु केवल आत्माको पहचानना और उसे मोक्ष तक ले जाना ही है।

वेदान्तिक, वैष्णव, स्वामीनारायण, तथा योगीगण भी यही कहते हैं जितना जैन कहते हैं कि—

'एगं जाणइ से सव्वं जाणइ'

जो एकको जानता है वह सबको जानता है। वेदान्तकी भगवती श्रुति भी कहती है—

'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'

एक आत्माके जाननेसे यह सब कुछ जाना जा सकता है।

जैन कहते हैं कि—'अप्पा सो परमप्पा' आत्मा ही परमात्मा है।

तब वेदान्त कहता है कि—

'अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।'

'मैं ब्रह्म अर्थात् परमात्मा हूँ'

'तू भी वही है'

प्रकर्ष तथा सम्यग्ज्ञान ही ब्रह्म है'

'यह आत्मा ब्रह्म है' ।

वदमें चार सूत्र हैं, इन चारों सूत्रोंमें एक एक महावाक्य है।

प्रज्ञान ब्रह्म' यह ऋग्वेदका, 'अहं ब्रह्मास्मि' यह यजुर्वेदका, 'अयमात्मा ब्रह्म' यह अथर्ववेदका, और 'तत्त्वमसि यह सामवेदके छांदोग्योपनिषद्का महावाक्य है।

जैन सिद्धान्तका नियम है कि—"नाणे पुण नियमा आया।'

'ज्ञानमें नियमसे आत्मा है'

वेदान्त भी यही कहता है कि—"प्रज्ञान ब्रह्म"

'प्रज्ञान ही आत्मा है'

जैन कहते हैं कि—जन्ममृत्यु रूपक संसृति कर्मके द्वारा चलती है, और ये कर्म जड है। इन कर्मोंका नियामक आत्मा है। यानी आत्मा कर्मजन्य सृष्टिका अधिष्ठान है।

वेदान्त कहता है कि—ये अनादि मायाके द्वारा है, और इसका नियामक आत्मारूप ईश्वर है।

जैन कहते हैं कि—कर्मोपाधिका प्रलय होनेपर आत्माका मोक्ष होता है।

वेदान्त कहता है कि मायोपाधिका प्रलय होनेपर आत्माका मोक्ष है।

जैन कहते हैं कि—आत्माका मोक्ष होनेपर 'अपुणरावित्ति' संसारमें पुनरागमन नहीं होता। अर्थात् आत्माको फिरसे जन्म मरणके चक्रमें नहीं आना पडता।

वेदान्त कहता है कि—"न पुनरावर्तते" आत्माकी पुनरावृत्ति नहीं होती।

गीताजीमें श्री कृष्णचन्द्रजीने कहा है कि—"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम"

जहां जाय बाद फिर आना नहीं पडता।' वही मेरा परमधाम है। अर्थात् परमात्माके धामको परमधाम कहते हैं या मोक्ष कहते हैं। वहां जानेपर फिर वापस नहीं आना होता।

जैन कहते हैं कि—

"एगे आया"

आत्मा द्रव्य गुण पर्यायकी दृष्टिसे एक है।

वेदान्त कहता है कि—

"एकोऽहम्"

मैं एक हूं।

जैन कहते हैं कि—

'तक्का तत्थ ण विज्जइ मई तत्थ ण गाहिया'

तर्क आत्माके स्वरूप तक नहीं पहुंच सकता, और मति उस आत्माके स्वरूपको ग्रहण नहीं कर सकता।

वेदान्त कहता है कि—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

जहांसे वाणी वापस फिर आती है। वह आत्म-स्वरूप मन द्वारा अप्राप्य है। भावार्थ यह है कि—मन और वाणी उस आत्मा का वर्णन नहीं कर सकते।

जैन कहते हैं कि—आत्माको सम्पूर्ण या अखंड रूपमें जानने वाले मनुष्य कैवल्य ज्ञानको पाते हैं।

वेदान्त कहता है कि—

'कैवल्यपदमश्नुते'

कैवल्य पदका अनुभव करता है।

वेदान्त कहता है कि—अखिल विश्वमें सच्चिदानन्द परब्रह्म सर्वव्यापक है।

जैन कहते हैं कि—अखिल विश्वमें मारनेसे मरता नहीं, जलानेसे जलता नहीं, काटनेसे कटता नहीं भेदन करनेसे भेदित नहीं होता, और चर्मचक्षु द्वारा दीख नहीं सकता, ऐसा सच्चिदानन्द स्वरूप जीव स्वाभाविकतासे सघन रूपमें भर पड़े हैं। आकाश, पर्वत पृथ्वी, नक्षत्र आदि कोई भी स्थान जीवसे खाली नहीं है। अर्थात् चैतन्य लक्षण युक्त जीवकी दृष्टिसे देखने पर चैतन्यदेव समस्त लोकमें भरपूर है।

वेदान्त कहता है कि—आत्मा स्वयं सर्वज्ञ है,

जैन भी यही कहते हैं कि—आत्मा अनन्त ज्ञानमय है।

वेदान्त कहता है कि—ब्रह्म सनातन है।

जैन कहते हैं कि—आत्मा स्वयं शुद्ध-बुद्ध आनन्द स्वरूप है और सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी है।

वेदान्त और सांख्यादि भी यही कहते हैं।

वल्लभाचार्य मतप्रवर्तक कहते हैं कि—

निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो,

निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः।

आनन्दमात्ररपादमुखोदरादि-
सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा ॥

आत्मतत्त्व अर्थात् मात्र आत्म स्वरूप निर्दोष है। पुण्यगुण
भिन्न है। पुन जडात्मक शरीर और गुणन भिन्न है। इस
आत्म स्वरूपमें हाथ, पैर, मुख, उदर इत्यादि अवयवोंकी कल्पना
करने पर मात्र आनन्द हा अर्थात् सम्पूर्ण आनन्दमय मेन भाव
रहित है। आत्म-तत्वर अवयवोंसे श्लोकमें की गई कल्पनामें
परल आनन्द ही इसके अवयव हैं। यह स्पष्टतासे समझमें आ
जाता है। इस आत्म स्वरूपमें जन्म, जरा और मृत्यु रूपी भय नहीं
है। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप त्रिविध भेदसे यह आत्म स्वरूप
भिन्न है।

जैन कहता है कि—निश्चय नयसे तो आत्मा अकर्ता ही है।

सांख्य शास्त्र कहता है कि—"अहङ्कार कर्ता न पुरुष।" कर्ता
धर्ता अहङ्कार है पुरुष नहीं, अर्थात् आत्मा कुछ नहीं करता, प्रत्युत
अकर्ता है।

जैन कहता है कि—"ईश्वर सर्वज्ञ होता है, तथा उसमे राग द्वेष
आदि भी नहीं है।

योग शास्त्र कहता है कि—"क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः
पुरुषविशेष ईश्वर।" क्लेश कर्म, विपाकके आशयसे सर्वथा
असंस्पृष्ट अलिप्त है, वही पुरुष विशेष पुरुषोत्तम और ईश्वर है यानी
ईश्वरको राग द्वेष क्लेश कर्मविपाक नहीं छू सकते।

'तत्र सर्वज्ञबीजं।"

उस ईश्वरमें सम्बन्ध होता है। आत्मा अनन्त तत्त्व रूप है। वेदान्त कहा करता है कि—

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।"

ब्रह्म स्वरूपमें पाप, पुण्य, सुख या दुःख नहीं है। पुनः वेदान्त कहता है कि—

"न पापं न पुण्यं न दुःखं सुखं न।
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं॥

"मेरा आत्म-स्वरूप शिव है, और उस शिव स्वरूप आत्मामें पाप, पुण्य, सुख, दुःख नहीं है, क्योंकि वह सच्चिदानन्द रूप है।

जैन कहते हैं कि—केवलज्ञानी यहां ही मोक्षका अनुभव करते हैं।

इसीसे मिलता जुलता मत स्वामीनारायण मत प्रवर्तक श्री सहजानन्द स्वामीका भी यही मत है कि—

'अक्षरधाम यहीं है, आत्मा स्वयं अक्षर स्वरूप है। जो आत्माको यहांके लिये भी अक्षरधाम समझता है उसीकी समझ सच्ची है, और जो अक्षरधामको किसी अन्य स्थल आकाशादिमें समझते हैं उनकी समझ मिथ्या है।

प्रणामीपंथ अर्थात् खीजड़ापंथ प्रवर्तक महराज ठाकुर तथा श्री देवचन्द्रजी अपनी सम्प्रदायको निजानन्द सम्प्रदाय कहते हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर पता चलता है कि—भारतके धर्मात्मा पन्थोंका सिद्धान्त आत्मानन्दके पानेका ही है।

मुहम्मद साहब भी यही कहते हैं कि—जगत्‌में जो भी कुछ

चैतन्य प्रतीत होता है वह गुरुकी खासी है, गुरु निरञ्जन निराकार, तेजोमय और सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है। योगिन तो कृपालु गुरुको अपने पास ही देखते हैं। गुरुका अर्थ भी गुरु ही होता है। क्रिश्चियनिटीका भी यही उपदेश है कि—चौथे आसमानपर प्रभु विराजमान है। वह प्रभु भक्तोंका आत्मा है, और परम भक्त उस प्रभुको प्राप्त करते हैं। अखिल भूमण्डलमें सर्वोच्च कीर्तिको पानेवाले बुद्धदेव भी स्पष्ट कह गये हैं कि—प्रेम ही आत्मा है। अतः जगत्‌के प्रत्येक प्राणीमें अभेद प्रेम रक्खो।

तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय, तो जैन वेदान्त, योग, सांख्य, बौद्ध आदि सब एकताका ही अनुभव करते हैं। एकता पानेके लिये अर्थात् आत्मज्ञानमें अभिवृद्धि करनेके लिये साधनोंको भिन्न भिन्न धर्म मीमांसकोंने भिन्न भिन्न देश कालमें भिन्न भिन्न पद्धतिसे समझाया है। अतएव बहिर्दृष्टिसे देखा जानेपर उन मतोंकी क्रियाओंमें भेद ज्ञात पड़ता है। तथापि उन क्रियाओंका समन्वय किया जाय तो वे भेद भी अभेद भाव झलकने लग जाते हैं।

जैन जिसे पाँच महाव्रत कहते हैं, बौद्ध उन्हें पांच शील कहते हैं, और योगी उन्हें पांच यम कहते हैं। वेदान्तके शम दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान भी ऐसे ही हैं। परमहंसोंके वर्तन करने योग्य नियम भी अन्तमें एक ही हैं।

प्रत्येक धर्मके नीति, दया परोपकार, प्रेम आदि सामान्य और सर्वमान्य नियम भी गृहस्थ धर्ममें समानता तथा उपयोगिता-

का उपभोग करते हैं। समतादि वैराग्यके लक्षण भी सबमें समान रूपसे ही पाये जाते हैं।

ज्ञानी पुरुषोंके वर्तावकी ओर दृष्टि डालते हुए जैनोंका बयान "मित्तिमे सव्व भूएसु" सब प्राणिओंके साथ मित्रता अर्थात् समान भाव रखना चाहिये। न्यूनाधिक न होना चाहिये। वद भी कहता है कि—

"मित्रस्य चक्षुषा पश्यामहे।"

'सबको मित्रकी दृष्टिसे देखना चाहिये।'

'आत्मवत्सर्वभूतेषु' ज्ञानी पुरुष अपनी आत्माके समान सब जीवोंको देखते हैं।

देह मीमांसकोंकी तरफ दृष्टि डालनेपर जैन मुख्यतासे, औदारिक, तैजस, कार्मण शरीर कहते हैं।

इसी प्रकार वेदान्ती भी उन ही शरीरोंको स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर कहते हैं। जैन जिसे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और उजागर या तुर्यावस्था मानते हैं, उन अवस्थाओंका वर्णन वेदान्ती भी उसी प्रकार करते हुए सन्तोष प्रगट करते हैं।

समृति मीमांसकोंके कथनको देखते हुए जैन यह कहते हैं कि—

"परिणामो बन्धो परिणामे मोक्खो।"

"मनके परिणामसे ही बन्ध और मोक्ष है।"

वेदान्ती संकल्पसे सृष्टि मानते हैं।

जैनोंका मानसिक अध्यवसाय और परिणाम तथा वेदान्तका संकल्प एक ही बात है।

इन प्रमाणोंसे आत्मानन्दकी अभिवृद्धिके साधनोंका यानी धर्मोका समन्वय करते हुए व सब धर्म आत्म प्रत्यक्ष समाये हुये रहते हैं। साधन अभेद होनेसे साध्य आत्मा भी प्रत्यक्ष अभेद ही समझा जाता है, और अनुभवमें भी यही आता है। अत प्रत्येक मुमुक्षु जीवको प्रत्येक जीवमें प्रेम भाव रखना चाहिए, और सब जगहोंमें ही सर्वत्र मेरा ही स्वरूप है यही पाठ पढ़कर अभेद प्रेम रखना चाहिये। हलते, चलते उठते, बैठते, खाते, पीते इत्यादि सब क्रियाओंमें शुद्ध चैतन्य आत्म स्वरूप हूं यही भावना रखनी चाहिये। इतना ही नहीं, बल्कि—जगत्के सब भूत भी मेरे ही स्वरूप हैं। यह जानकर उनके प्रति अभेद प्रेमकी वर्षा करनी चाहिये। इस प्रकार जो पुरुष सब जगत्पर अभेद भाव रखते हैं, वे ही वीतराग हैं पूर्ण हैं, और कृतकृत्य हैं। धन्य उस वीतराग देवको है कि जिसने निष्पक्षपातसे ऐसा सुन्दर अभेद मार्ग जगत्के कल्याणके लिये निस्वार्थ भावसे प्रगट किया है। जोकि स्वतन्त्रताका दूसरा द्वार है।

योग



प्रत्येक प्राणी सुखकी इच्छा प्रगट करते हैं, इतना ही नहीं बल्कि सुखकी प्राप्तिके लिये अनेक उपाय करते हैं, उन उपायोंसे जब वह सफलीभूत होता है और अनन्त सुखको पाता है तब वह सर्वथा कृतकृत्य हुआ समझा जाता है, सुखको पानेके लिये अनेक साधनों-में धर्म सर्वसे मुख्य साधन है, वर्तमान समयमें जो अनेक मत, पंथ, वाड़ाबन्दी सम्प्रदाय, मघाड़ा, गच्छ, टोला, पार्टीबाजी आदि जो धर्मके नामपर चलकर अमर शहीद बनने जा रही हैं, ये सब सुखके साध-नसे विमुख बनकर व अपने शिष्योंको सुखका साधन प्राप्त करानेमें असमर्थसे ही हैं। मात्र अपनी सम्प्रदाय और टोलेको निभानेके लिये अमुक अमुक क्रियाएँ रच डाली हैं। उन्हींको परम्पराके अनुसार अपने शिष्योंको भी बताते रहते हैं, और वे शिष्य भी उस परम्पराके अस्पष्ट चक्रके अनुसार उन क्रियाओंको उनके इशारेपर नाच-नाचकर करते रहते हैं। ऐसी स्थितिमें जो क्वचित् क्वचित् सुखकी इच्छावाले प्राणी हैं उनको सन्तोष नहीं होता। सन्तोष न होनेसे ऐसे भद्रपरिणामवाले जीवोंको सुखके साधनके लिये खून पसीना एक करना पड़ता है। बहुत कुछ धूल खाक छाननेपर भी सुखके सच्चे साधन समयपर मिलते हैं और नहीं भी मिलते। इस प्रकार उनकी दयनीय स्थितिपर स्पष्ट समझा जा सकता है कि स्थायी

सुखके वास्तविक और सच्चे साधनोंके प्रचार करनेकी जगत्‌को पूरी आवश्यकता है।

सुखके साधनोंमें योग सबसे बड़ा और अद्वितीय चमत्कारिक तथा सर्वमान्य साधन है। यदि इन साधनोंका गुरुगम द्वारा उपयोग किया जाय तो अवश्यमेव अल्प समयमें सनातन अखण्ड सुखकी प्राप्ति हो सकती है। योग एक ऐसी वस्तु है कि वह अपने आप नहीं सीखा जा सकता, अतः किसी महात्मा, योगनिष्ठ, आत्मजित् पुरुषके द्वारा उसे सीखना चाहिये। आजकल योगी पुरुष इस भारतमें सब जगह नहीं मिलते अतः सतत् प्रयास द्वारा योगियोंकी शोध करनी पड़ेगी, परन्तु नकली योगियोंसे तो सावधान ही नहीं बल्कि दूर रहना चाहिये और किसी सच्चे योगीको खोजकर साध्यकी साधना कर ली जाय। परन्तु इतना स्मरण रहे कि योगकी साधनाके बिना सत्य सुखको कोई भी नहीं प्राप्त कर सकता, परन्तु वह सत्य सुख अपने पास और अपनी आत्मामें ही है, और योग अन्तर्दृष्टिके अभ्यास द्वारा उसे पा सकता है। जिस मनुष्यको सनातन सुख अभीष्ट हो उसे योगकी साधनामें लगना चाहिये। योग और योगीकी महत्ता बड़ी ऊँची है। श्री गीता भगवतीमें श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है कि—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(अध्याय ६, श्लोक ४७)

भावार्थ—उपवासादिक अनेक प्रकारके लम्बे लम्बे तप करने-

वालोसे योगी बड़ा है। नय, निक्षेप, दशादिकी आयुष्यके भग (भागे) तथा जीवादिकी सख्याकी गणना करनेवाले वाचाल ज्ञानियोंसे भी योगी बड़ा है, आवश्यकादि कार्य करनेवालेसे भी योगी बहुत बड़ा है। अत हे अर्जुन। तू योगी बन।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रिय ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
(गीता अध्याय ७, श्लोक ५)

भावार्थ—आत्म-विजेता, इन्द्रियजित् और सब भूतोंपर समभाव रखनेवाला, योगी पुरुष कर्म करनेपर भी निष्कर्म्मा समझा जाता है। अर्थात् कर्म लेपसे लिप्त नहीं होता।

इसी प्रकार जैन दर्शनमे भी कहा है कि—

"अग्गं च मूलं विगिंच धीरे।
पलिच्छिन्दियाण णिक्कम्मदसी ॥"
(आचारांग)

अग्रकर्म और मूलकर्मके भेदको समझ कर विवेक द्वारा कर्म कर। इस प्रकार कर्म करनेपर वह साधक निष्कर्मा कहलाता है।

अकम्मस्स ववहारो ण विज्जइ।
कम्मुणा उवाहि जायइ ॥
(आचारांग ३-१-३)

भावार्थ—निष्कर्माके जीवनमे उपाधि या उत्पात नहीं होता। इसी प्रकार लौकिक टीपटाप और दिखाव बनाव भी नहीं होता। इसका शरीर मात्र योग क्षेत्रका वाहन होता है। इत्यादि।

यह योग अनादि कालसे चला आ रहा है, और इसके आदि प्रवर्तक आदिनाथ अर्थात् आदि तीर्थंकर श्रीऋषभदेवजी जिनराज हो गये हैं। उन्होंने मनो निग्रहका आदेश सर्व प्रथम करके यह बताया है कि अविरतर बहुतसे जीवोंका जगत्के सम्मुख दृष्टि द्वारा क्षोभ प्राप्त मन अनुकूल होकर आत्माके सम्मुख प्रवर्तित होता है, और वह फिर अनन्त सुखका साक्षात्कार पाकर उसका अनुभव करता है अतः मनका निरोध करना ही योग है। भगवान पतञ्जलिने भी योगका यही लक्षण बताया है।

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।"

'चित्तवृत्तिका निरोध करना योग है।'

इस अत्युत्तम योगके पात्र स्त्री पुरुष या चारों वर्णोंके लोग हैं। योग साधनामें जाति भेदकी कोई आवश्यकता नहीं है। चाण्डाल जाति भी योगी महात्मा हो सकता है। २५०० वर्ष पूर्व हरिकेशी मुनि जातिके चाण्डाल थे तथापि योगके द्वारा महात्मा पदको पा गये थे।

सोवागकुलसंभूओ गुणुत्तरधरो मुणि
(उत्तराध्ययन)

भावार्थ—चाण्डाल कुलमें जन्म लेनेपर भी हरिकेशी मुनि उच्च गुणके धारण करनेवाले मुनि थे।

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो
न दीसइ जाइ विसेसु कोई।
सोवागपुत्ते हरिएससाहु,
अस्सरिसा इड्ढि महाणुभागा॥
(३७, उत्तराध्ययन १२)

"योगका महात्म्य आखों आगे प्रत्यक्षमें दीख पड रहा है जिसमें जातिकी कोई आवश्यकता विशेष नहीं है। हरिकेशयोगी चाण्डाल जाति है। परन्तु इसके योग ऋद्धिके सामने सबकी आखें चौंधिया गई हैं।

परन्तु तामस वृत्तिवालोंसे योग साधना नहीं हो सकती। अत योग विद्याके जिज्ञासुओंको घी, दूध, तेल, प्रासुक भोजन आदि सात्विक आहारका उपयोग करना चाहिये।

आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीति विवर्धना,
रस्या स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहारा सात्विका प्रिया।
(गीता श्लोक १७, अध्याय ८)

रसयुक्त, चिकना, स्थिर हृद्य आहार सात्विक जनोंको प्रिय है, क्योंकि इनसे आयुष्य, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि होती है।

परन्तु अधिक मिरचें, अति तेल, अति खटाई आदि तामसी पदार्थोंका उपयोग न करना चाहिये। इसके उपरान्त आवश्यकतासे अधिक न बोलकर अधिकांश मौन रहना चाहिये। निकम्मा वाग्व्यय करनेसे योगमें विकार आ जाता है। योग साधना करनेवाले महात्मा पुरुषके पाससे योगकी तालिका सीखकर उसकी साधना करनेके लिये एकान्त तथा पवित्र विजन प्रदेशमें जाना चाहिये। पहाड पर्वत आदि एकान्तप्रदेशके अतिरिक्त अन्य किसी स्थानमें जैसी चाहिये वैसी अच्छी रीतिसे योगकी साधना नहीं कर सकता। इसीलिये प्राचीन कालके पुरुष अनेक पहाडोंमें जहां नाना सात्विक वनस्पति होनसे

तथा वहां अनेक महात्माओंके शुद्ध रज कण होनेकी स्मृति रहनेसे, वातावरण भी शान्त और पवित्र रहनेसे उस स्थलपर एकदम शांत और अचपल मन हो जाता है। अतः वह स्थान उनका मनपसंद है। बड़े राजमहल या धर्म स्थानमें जिस आनन्दका स्वप्नमें भी अनुभव न हुआ हो उस आनन्दका अनुभव इन्दु और शिमले तथा इस मौसम पर्वतकी पहाड़ोंमें जानेसे होता है। अतः योगीको जिसा इस प्रकारका स्थान पसन्द करना चाहिये। यदि कारणवश इन स्थानों-पर न जा सके तो जहां तक अपनी ही बस्तीमें रहना हो उनके आसपास किसी रमणीक वनस्पतिवाले उपवनको चुनना चाहिये, और वहां योगाभ्यास करना चाहिये। धूलपर बैठकर योगकी साधना नहीं की जा सकती बल्कि बैठनेके लिये आसनकी भी आवश्यकता है।

योगियोंके लिए दर्भासन अत्युत्तम है, और दर्भासनपर कम्बलासन बिछाना चाहिये। दर्भासन तथा कम्बलासनमें साधकके शरीरकी शक्ति विद्युत्‌को टिकाये रखनेकी शक्ति बड़ी ही उत्तम है। इसीलिये सूने कपड़ेपर योगी अपने योगाभ्यासकी साधना न करे।

भगवती आदि सूत्रोंमें भी कई स्थलोंपर दर्भासनका पाठ ही किया गया है।

"दब्भसंथारग संथरइत्ता।"

इसकी पुष्टिके लिए उत्तराध्ययनमें केशी मुनि और गौतम गणधर जहां मिलते हैं वहां वे आगन्तुक मुनिका स्वागत "कुसा तणाणिय" दर्भके आसनसे करते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि—जैन आगमिक काल तक सर्वत्र दर्भासनका ही रिवाज था।

दर्भासनके अभावमें कम्बलासन बिछाना चाहिये। दर्भासनके ऊपर कम्बलासन बिछाकर उसपर पद्मासनसे मन पसंद आसन लगा कर तथा स्थिर होकर पूर्व या उत्तरमें मुख करके बैठना चाहिये। सूत्रोंमें पद्मासन लगाकर पूर्वमें मुख करना बताया है।

पुरस्ताभिमुह' मपल्यिकनिम णे"

पर्य्यंकासन-पद्मासनसे बैठकर पूर्वमें मुख रक्खे। पद्मासन लगाकर बायें हाथकी हथेलीपर दाहिना हाथ सीधा रखकर, कमर, गर्दन, मस्तकको एक पंक्तिमें रखकर बैठना चाहिये, और दाढ़ीको हंसलीसे चार तसुक अन्तरपर रहने दे। इस आसनसे सवेर साझ या मध्याह्नमें तथा रात्रिके पहले और पिछले पहरमें सतत अभ्यास करना चाहिये। एक पहर यदि आरामसे स्थिर होकर बैठ सके तब समझो कि—आसनपर विजय प्राप्तकर ली गई है। आसनपर विजय पानके बाद प्राण और शरीर तथा दृष्टिपर विजय पाना चाहिये। परन्तु आसनपर विजय पाये बिना योग सिद्ध नहीं हो सकता। इसके बिना आत्म-साक्षात्कार अर्थात् सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अत्र सतत प्रयास द्वारा गुरुगमसे पाई हुई युक्तिके अनुसार आसनपर जय पा लेना चाहिये। आसनके जयमें यम और नियमपर जीत प्राप्त करनी चाहिये।

आसनको जीतनेके पश्चात साधकजन अनेक प्रकारकी क्रियाएँ सीख सकते हैं। परन्तु आसनको जीतकर दृष्टिको जीतनेकी पूर्ण आवश्यकता है। दृष्टि जयका पहला लक्षण आंखका न मींचना है। इससे मेषोन्मेष दृष्टि हो जाती है। योग परिभाषामें इसे

त्राटक कहा जाता है। सूत्रोंमें भी मेषोन्मेष रहित होनेके कई जगह प्रमाण मिलते हैं।

दृष्टिको जीतनेके लिये या त्राटक मुद्राको सिद्ध करनेके लिये सरल और मामूली साधकको यथेष्ट आसनपर बैठकर अपनेसे सवा हाथके अन्तर पर किसी रङ्गकी गोलीको बनाकर रख देना चाहिये और उस बने जितनी गोलीपर दृष्टि जमाये रहो। अमुक समयके अनन्तर आखमें पानी आयगा। आरम्भमें आंसू आनेपर त्राटक रोक देना चाहिये। चार या आठ दिन तक आंसुओंको पोंछते रहना चाहिये, और त्राटक आरम्भ रखना चाहिये। प्रयास ऐसा करना चाहिये जिससे पलक बन्द न हो सके, और इस प्रयासमें शान्तिपूर्वक प्रति दिन वृद्धि रखना चाहिये। जब एक महीनेसे अधिक पलक जीत लेगा तब कई नवीन बातोंके अवसर साधक स्वयं देखने लगेगा, और ज्यों ज्यों इससे भी अगाड़ी बढ़ेगा त्यों-त्यों उस साधकको अलौकिक आनन्दकी अंश अंशमें प्राप्ति होगी। ज्यों ज्यों दृष्टिको जीतता जायगा त्यों त्यों उसका मन शांत होता जायगा और दृष्टिके जयमें मनका भी जय होता है। अधिकतर आंखकी भवोंपर दृष्टि रखना इसीलिये सूत्रोंमें भी बताया है।

"एग पोग्गलनिविट्ठदिट्ठि।"

'एक पुद्गलपर दृष्टिको स्थापना करद।"

इस प्रकार ध्यानकी प्रक्रियायें महात्मा पुरुषोंके पास सीखना चाहिये। जब एक घंटा तक दृष्टि विजयका अभ्यास हो जाय

तदनन्तर साधकको चाहिये कि—दिनके पहले भागमें किसी सुन्दर पहाड़के शिखरपर या वृक्षकी चोटीपर दृष्टि जमाना चाहिये। रात्रिमें चान्द या शुक्र तथा मंगल तारेपर नजरको जमाना चाहिये। यह प्रयास ज्यों ज्यों बढ़ेगा त्यों त्यों प्रकृतिके प्रत्यक पदार्थकी ओर पवित्र प्रेम उत्पन्न होगा, और दृष्टिके प्रत्येक अशमें वीतरागताका प्रकटीकरण होगा। परन्तु यह प्रयास भी एक घटा तक रखना। इसके अनन्तर सृष्टिके चाहे जिस भागपर दृष्टि डालोगे तब एकदम वह वहीं स्थिर हो जायगी, और शरीरके कोषलेमेंसे दुःख निकलकर भागेगा, इस कक्षापर पहुचनेपर साधकको तुरन्त प्रभु नामका भावना नामक जाप परम प्रेम पूर्वक शुरू कर देना चाहिये। जापमें इच्छा-नुसार शब्दोचार या "नमो अरिहंताण" जपना चाहिये। परन्तु कुछ समयके पश्चात नमो पद आपसे आप उड़ जायगा, और आत्मा अर्हन् प्रभुमें एकाकार हो जायगा। प्रति समय यथावसर पाकर हिलते, चलते, उठते, बैठते, सोते, जागते वह ध्यान दिमागसे न निकल सकेगा। प्रातः, सांय मध्यान्ह और रात्रिमें योगकी क्रियाका आरम्भ रखकर जाप जपते रहना। एक ओरसे योग क्रिया द्वारा सद्भावनाकी दृढ़ता और दूसरी ओरसे जाप, इन दो साधनोंके मिलनेसे मन एकदम शान्त हो जायगा। क्योंकि—मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो। मनरूपी घोड़ा साहसिक और भयकर दुष्ट है।

"इन्द्रिय चवल तुरगो"

मनका घोड़ा—या इन्द्रियोके घोड़े अधिक बलवान होते हैं, परन्तु इस प्रयाससे उनकी मस्ती निकल जाती है, और वे

शान्तिमय हो जाते हैं। इस प्रकारके संयोगोंमें साधककी विवेक दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टि हो जायगी तथा साथ साथ आनन्दकी वृद्धि भी। यह साधना सन्तोष जनक होनेपर साधकको अपने योगकी दिशा बदल देनी चाहिये। अथात् जो श्रास्क बाहिर किया जाता था उसके स्थानपर अन्तर क्रिया आरम्भ करना चाहिये। प्रथम श्वासोच्छ्वासमें दृष्टि रखनी चाहिये। और जो श्वास बाहर आता है तब 'सो' और अन्दर जाते समय 'हं' का कुदरती ही उच्चार होता है। तब दोनों मिलकर "सोहं अजपाजाप बिना ही जपे होता रहता है उसपर ध्यान देना चाहिये। अथात् श्वास जहांसे उठता है और जहां जाकर समा जाता है वहां तक उसके अन्दर वृत्ति रखनी चाहिये। इस प्रयासमें एकदम शान्ति होने लगेगी, और अन्तरके आनन्दमें उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगेगी। दिनरातमें सामान्य रीतिसे २१६०० श्वासोछ्वास चलते हैं। उनमेंसे उपयोग बिना एक श्वास भी न जाने देना चाहिये। "सोहं" के जापका सतत् प्रयास होनेके पश्चात् सहज-वृत्ति श्वासमें रहने लगती है। आरम्भमें इस प्रकार श्वासका ध्यान सिद्ध होनेपर साधकको हृदयके मध्य भागकी वृत्ति स्थिर करनेका प्रयास करना चाहिये। जब हृदयकी वृत्ति स्थिर होगी तब हृदयमेंसे अलौकिक शान्तिका स्रोत प्रगट हो जायगा। जिस शान्तिका साधकको अब तक इससे पहले किसीके पास अनुभव नहीं हुआ था। जब हृदयका ध्यान सिद्ध होता है तब नाभीके पर दशामें वृत्तिको स्थापन करे। वहांकी सिद्धि होनेपर उसे पुन

हृदयमे ले आना चाहिये, और वहासे कठक मध्यमें ला छोडे। नाभि, हृन्य और कठमे शान्तिका अनुभव होनेपर मनोवृत्तिको त्रिकुटी भवनमे स्थापन करे। त्रिकुटी ध्यानका प्रयास होनेपर और वहाकी स्थिरवृत्ति होनेपर मसूरकी दाल जितने एक बिन्दुका साक्षात्कार होता है, और वह बिन्दु अतिशय चमकदार होता है। बिन्दुक दर्शन होनेपर साधकको अपार आनन्द मिलता है। उस नाद-बिन्दुके दर्शन होनेपर सिद्धियां भी साधकको सेवामे उपस्थित हो जाती हैं। कपालमे अखिल विश्वकी झांखी हो जाती है। इसका कारण यह है कि—उस स्थलपर त्रिकुटीमें गोल बिन्दुक दर्शन ही हैं, और वह चांदकी निशानी द्वारा बिन्दु दर्शनक रूपमे समझाया गया है। बिन्दु दर्शन होनेपर साधकको अलौकिक ज्ञानकी प्राप्ति होती है, और जन्म जरा मृत्युक विनाशकी तैयारी हो जाती है। बिन्दु दर्शन ही शकरका (आत्मानदका) तीसरा नेत्र है। प्रत्येक आत्मा शकर ही है, और उसके समानतया दो नेत्र तो है ही, और तीसरा बिन्दु दर्शन रूप ज्ञानलोचन प्रयास द्वारा उघडता है, बिन्दु दर्शनक पश्चात् योगीको मृत्युका भय नही हो सकता, और साधकक संशय शल्योका नाश हो जाता है। इसीको समझनेके लिये कहा जाता है कि शकरका तीसरा नेत्र उघड आता है। तब संशय शल्यरूप विश्वका प्रलय हो जाता है।

त्रिकुटीमें बिन्दु दर्शन होनेपर साधक ज्यो-ज्यों विशेष प्रयास करता है त्यो-त्यों वह बिन्दु विशेष प्रकाशित होने लगता है, और अन्तमे साधक उस बिन्दुमे इतना विलीन हो जाता है कि—उस

शान्तिमें उसे नादका अनुभव होने लगता है। तब बिन्दुकी अपेक्षा नादमें विशेष आनन्द आनेसे बिन्दु गौण होने लगता है, और नाद विशेषातिविशेष श्रवणगोचर होने लगता है। नाद भी अनेक तरह सुनाई पड़ने लगता है, और वह वंशी सितार, सारंगी और मोदङ्ग-स्वानसे भी अधिक और उत्कृष्ट होता है। मेघकी गर्जनासे भी अधिक गर्जना सुनाई देने लगती है। अन्तमें दिव्य नादका अनुभव होनेपर साधक उस नादमें अत्यधिक लीन हो जाता है। इस ध्वनिका अनुभव इतना अधिक बढ़ जाता है कि—साधकको हिलने, चलने, उठने, बैठने आदिकी क्रियाओंमें भी नादका अनुसन्धान रहा करता है। नादके अनुभवसे ही जगतमें संगीतका प्रचार योगी लोगोंने किया है। जिस प्रकार नाद साधकको प्रिय है उसी भांति जगतको संगीत प्रिय है। अतः संगीत (गुणगान) द्वारा मनको एकाग्र बनाकर साधकजन आगे बढ़ सकते हैं। वास्तवमें संगीत बाह्य नाद हो गया है, और इस बाह्य नाद द्वारा अभ्यन्तर नादको मिलाकर पाया जा सकता है। साधक जब नादमें और भी आगे बढ़ता है, तब उसको नादका अनुभव जहां होता है वह भ्रमर गुफाके ऊपर एक पोली शंकुके आकारकी प्रतीत होगी, और उस पोलके शिखरपर एक महान प्रकाशवाले पदार्थका अनुभव होगा। वह प्रकाशमान पदार्थ गोलाकार और उलटे छत्रके आकारकी तरहका जान पड़ेगा। यह छत्राकार सहस्र दल कमल सिद्धशिला रूप अजरामर चक्र शिरके अग्रभागमें—लोकके अग्रभागपर है। इस अजरामर चक्रमें वृत्तियं विलीन होनेपर साधकको अखण्ड अलौ-

किमय आनन्दका अनुभव वर्धमान रूप होता है। वह आनन्द बढता भी इतना अधिक है कि—साधक योगी उसमें एकदम लीन हो जाता है और अलौकिक आनन्दका अनुभव अपने उस समस्त शरीरमें प्राप्त करता है। अर्थात् स्वयं जो आनन्द रूप है उस अलौकिक आनन्द स्वरूपको स्वयं सर्वाङ्ग अनुभव करने लगता है। इस अवस्थामें वह साधक रूपसे मिटकर सिद्ध, योगी, विदेही, महात्मा जीवन्मुक्त कहलाता है। इस योगीकी दृष्टि देहसे अन्य स्थलपर जहां जहा जाती है वहां वहां वह अलौकिक दिव्य आनन्दका अनुभव करता है। जलस्थान, स्थलस्थान, राजस्थान धनिकस्थान, पशु-स्थान आकाश स्थान आदि जिन जिन स्थानोंपर उस महात्माकी दृष्टि होती है वहां वहां वह आनन्दका ही अनुभव करता है। सब जगह अभेद रूपसे अलौकिक अनुभव करनेसे—द्वैत भावकी भ्रांति न रहनेसे वह वीतराग कहलाता है। ऐसा योगी पुरुष ही कृत्यकृत्य और सिद्ध है। ऐसे योगीके दर्शन भी जगत्‌को पावन करते हैं।

जिस प्रकार अभ्यन्तरवृत्ति द्वारा हम योगके सम्बन्धमें समझ सके हैं। उसी दृष्टिसे बाहरके भागमें नाभिके ऊपर स्थापन करनेमें आता है, और जब उस प्रयासमें नाभि और चक्षुके बीचमें एक चमकनेवाली तेजस्वी लकीर अखंडरूपसे दीखने लगे तब नाभिसे दृष्टि हटाकर छातीके मध्य भागमें स्थापन करनी चाहिये, और वहां भी जब इसी भांति तेजस्वी लकीर भासने लगे तब नासिकाके अग्रमें स्थापन करे। नासाग्रसे त्रिकुटीमें, वहांसे भ्रमर गुफामें होते हुए अजरामर चक्ररूप सिद्ध-शिलामें और वहांसे अनुभवमें पहुचा जाता है।

इस अनुभव मार्गमें भक्ति है, यह एक महान साधन है, भक्तिसे प्रेम प्रगट होता है, और प्रेमके द्वारा भी आत्माका साक्षात्कार हो सकता है। किसी शास्त्रके श्लोकपर विचार करते करते गंभीर तत्त्वमें उतर जाता है और उसके द्वारा भी आगे बढ़ सकता है।

एक ऐसी भी रीति है जिसमें पद्मासनसे बैठकर जो विचार आवें उनको तटस्थ बैठकर देखा करे, परन्तु विचारोंको अटकावे न। अभ्यासके प्रबल प्रयत्नसे विचारधारा स्वयं ठंडी पड़ने लग जाती है, और अन्तमें एकदम शान्त हो जाती है। विचारोंके शान्त होनेपर साधकको अलौकिक आनन्द होने लगता है। तब अखिल विश्वपर विशाल प्रेमकी दृष्टि हो जाती है। समान भाव भी मालूम होने लगता है। अपने आपमें ईश्वर भावका उदय होने लगता है। ज्यों ज्यों यह प्रयास बढ़ता है, त्यों त्यों अन्तरमें आनन्दकी विशेष जागृति हो जायगी। इतना ही नहीं, बल्कि बाहर भी सब जगह आनन्दका ही अनुभव होने लगता। और अन्तमें वह पूर्ण आनन्दमय बन जायगा। सब जगह ईश्वरभावको स्थापन करता हुआ अति प्रेममय बनकर, प्रेमकी दृष्टिसे विश्वका दिन रात अवलोकन करनेसे सच्चिदानन्द प्रगट होता है, और वीतराग हो जाता है।

पहले कहे गये प्रमाणानुसार साधकके लिये थोड़ी सी प्रक्रियाएं संक्षेपमें बताई गई हैं। इन्हें विचारकर तथा इसी प्रकार मनन करनेसे अवश्य अलभ्य लाभ होगा। तथा अपरिमित सामर्थ्य पा सकेगा। योगका विषय अत्यन्त विशाल और गहन

है, और इसे गुरुगमकी मार्फत बिना सीख भी नहीं सकता। हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग और राजयोग इस भांति योग चार प्रकारोंमें विभक्त है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योगके आठ अंग हैं, और इनमें प्रत्यकको उत्तरोत्तर एकको एककी अपेक्षा है। प्राणायाम कई प्रकारोंसे हो सकता है, परन्तु उनमें पूरक, कुम्भक और रेचक मुख्य हैं, भस्त्रिका आदि प्राणायाम भी उपयोगी हैं। प्राणायामको सहायता देनेके लिये नेति अर्थात् नाकमेंसे डोरा पिरोकर मुखद्वारसे निकालना, तथा धोती, अर्थात् कपड़ेको पेटमें उतारकर मलका निकालना, नौली अर्थात् नलोंका घुमाकर फिराना, वस्ति यानी गुदासे मल साफ करना, तथा कपालभाति, गजकरणी आदि हठयोगकी अनेक क्रियाएँ होती हैं। इसी प्रकार खेचरीमुद्रा, महाबन्धमुद्रा, वज्रमुद्रा इत्यादि मुद्राएँ गुरुगमके बिना न करें इनके कारण प्राणायाम आदि की बात फिर बताई जायँगी, क्योंकि ये वस्तुएँ भी विशेष भयरूप हैं। अतः महात्मा पुरुषोंकी संगतिमें रहकर सीखना चाहिये। योगसे बढ़कर संसारमें कोई अन्य विद्या उत्तम नहीं है। जो पुरुष योगकी साधना करेंगे अन्तमें वे परमपदको पायेंगे, और कर्मोंसे मुक्त होंगे। अतः उनको कर्मबन्धके चार प्रकार समझना चाहिये जो कि निम्नांकित हैं।

कर्मबन्धके ४ प्रकार और दुःख सुख

इस समय अनेक मनुष्य अनेक पाप करते देखे जाते हैं तथापि वे सुखी क्यों हैं?

इन्होंने पुण्यरूपी बीज बोये थे, इसीलिये आज वे उनके सुखरूप फलोंको खा रहे हैं, परन्तु इस समय अन्य जीवोंको दुःख देकर पापके बीज बोते हैं इससे भविष्यमें इसके अनन्तर उनके फल उन्हें दुःखरूप होंगे। इस प्रकार जो मनुष्य सुखी होकर भी पापाढ्य होता है वह मनुष्य "पापानुबन्धी पुण्यवान्" समझा जाता है। इसलिये कि—इस समय पूर्वपुण्यके कारण सुखी है और वर्तमान पापके कारण भविष्यमें दुःखी होगा।

कितने मनुष्य धर्मी होते हैं अच्छे कार्य करते हैं पुण्य भी करते हैं तथापि दुःखित क्यों है?

इसका कारण यह है कि पहले उन जीवोंने पाप किये थे, अतः वर्तमानमें दुःख भोगते हैं, इतनेपर भी शुभ कार्य करते हुए इस समय पुण्य बांध रहे हैं। अब वे आगे सुखी होंगे। ऐसे मनुष्योंको शास्त्रमें 'पुण्यानुबन्धी पापी' कहा है। इसीलिये कि भूतकालके पापके कारण दुःख भोग रहे हैं, परन्तु वे वर्तमानके पुण्य कार्यके द्वारा भविष्यमें सुख भोगेंगे।

तब क्या वर्तमान कालमें कोई मनुष्य दुःखको भोगता हो और उसे भविष्यमें भी दुःख भोगना पड़े तब क्या ऐसा भी कोई नियम है?

हां हां क्यों नहीं बहुतसे मनुष्य पूर्वके पापके कारण इस समय दुःखोंको भोगते हैं इतनेपर भी इस समय अन्य जीवोंको दुःख देते हैं तो वे आगे जन्मोंमें भी दुःखी ही होंगे।

ऐसे मनुष्योंको शास्त्रमें क्या संज्ञा बताई है?

वे 'पापानुबन्धी पापी' अर्थात् पूर्वजन्ममें पाप किया था

उसका फल तो भोग रहे हैं, और इस समय पाप करते हैं उसका दुःखरूप फल भी भोगेंगे ?

तब क्या यह भी हो सकता है कि इस समय सुखी हो और आगे भी सुखी ही रहे ?

हां यह भी हो सकता है, भूतकालमें जीवने अन्य प्राणियोंको सुख देकर पुण्य बांधा है, वे अब सुखी हैं, और अब पुण्य बांधकर भविष्यमें भी सुखोंका ही उपभोग करेंगे।

ऐसे पुरुषको शास्त्रमें क्या कहा है ?

इसे **'पुण्यानुबंधी पुण्यवान्'** कहा है, क्योंकि पहले पुण्य करनेसे अब सुखी है, और वर्तमानमें पुण्य करता है जिससे आगे भी सुख ही पायगा।

सार—यों कर्मोंके चार प्रकारके अनुबंध होते हैं, अनुबंध का अर्थ यह बंध है जिसका फल आगे भोगा जाता है। अच्छा अनुबंध होनेपर अगाडी सुखोंका उपभोग करेगा। अशुभ अनुबंध हो तो अगाडी दुःख भोगना पडेगा।

(१) **'पापानुबंधी पाप'** इस समय दुःख और पीछे भी दुःख।

(२) **'पापानुबंधी पुण्य'** इस समय सुख और पीछे दुःख।

(३) **'पुण्यानुबंधी पाप'** इस समय दुःख और फिर सुख।

(४) **'पुण्यानुबंधी पुण्य'** इस समय सुख और फिर भी सुख।

इस प्रकारके कर्मोंसे या तो दुःख मिलता है या सुख मिलता है, परंतु मोक्षका अव्याबाध सुख जो कि कभी समाप्त नहीं होता, ऐसा

आत्मिक सुख पानेके अर्थ शारीरिक सुखोंका भोग छोड़ना चाहिये। अर्थात् पाप पुण्यका क्षय करके आत्म स्वरूपमें रहना सीखिये, और किसी भी प्रकारका अनुबंध न बांधना चाहिये। यदि अनुबंध डालना ही हो तो पुण्यका ही डालना चाहिये। पापका अनुबंध तो बिलकुल ही न डालना चाहिये क्योंकि पुण्यके अनुबंधसे शुद्ध ऐसा बल प्राप्त कर सकता है कि जिससे कर्मोंका क्षय भी कर सकता है।



भावावश्यक



मंगलाचरण

(सम्पूर्ण जीवन मुक्त)

नमो अरिहंताण—अरिहंत प्रभोके लिये नमस्कार—स्वरूप कर्मरूपी आत्मिक शत्रुओंको नष्ट करके आत्मासे पृथक् करनेवाले—चार कर्मोंका क्षय करनेवाले—और चार कर्मोंको क्षय करनेमें तैयार रहते हुए उनको पतला करनेवाले।

(मुक्त)

नमो सिद्धाण—सिद्ध भगवान्के लिये नमस्कार—सम्पूर्ण तथा कर्मोंका नाश करके—जन्म, जरा, मरणका सम्बन्ध जड मूलसे तोड़कर नष्ट करनेवाले—देहादि सम्बन्धको छोड़कर स्वयं ज्योति स्वरूप अपुनरावृत्ति—अवस्थाको प्राप्त करनेवाले।

स्वमार्गका उपदेशक

नमो आयरियाणं—आचार्योंके लिये नमस्कार—स्वयं उत्तम आचार पालकर—आत्म-स्वरूपमें रमण करनेवाले,—और अन्यको उत्तम आचार पालन करनेका उपदेश देकर आत्म-स्वरूपमें रमण करनेका उपदेश करनेवाले।

पुरुससिहाण—पुरुपोंमें सिंह समान सहिष्णु।

पुरिसवरपुंडरियाणं-पुरुषोंमें उत्तम पुंडरीक कमलके सदृश महान और तपस्वी।

पुरिसवरगंधहत्थिणं—पुरुषोंमें उत्तम गन्ध हस्तीकी तरह आत्मिक बलसे बलिष्ठ।

लोगुत्तमाण—उत्तम साधन सामग्रियोंकी रचना करनेवाले लोकमें उत्तम।

लोगनाहाणं—लोकके नाथ।

लोगहियाणं—लोकका हितोपदेशी।

लोगपइवाणं—लोकका ज्ञान दीपक।

लोगपज्जोयगराण—लोकका विशेष प्रद्योतक।

अभयदयाण—अभयदानका देनवाला।

चक्खुदयाणं—ज्ञान रूप नेत्रका दाता।

मग्गदयाण—असंग मार्गके दाता।

सरणदयाणं—शरण (आश्रय) दाता।

जीवदयाण—संयम जीवनदाता।

बोहिदयाण—उपदेशक दायक।

धम्मदयाण—धर्म पथपर लानेवाले।

धम्मदेसियाण—धर्म सन्देश पहुंचानेवाले।

धम्मनायगाण—धर्मके अनुकूल नियमोंके रचयिता।

धम्मसारहीण—धर्मरूप रथके चलानेवाले।

धम्मवरचाउरन्तचक्कवट्टीणं—धर्म प्रधान, चार गतिका अन्त करनेवाले चक्रवर्ती।

दीवोत्ताण शरणगइपइट्ठा—चार गतिमे पडत हुए जीवोंकी सरक्षगा करनेमे टापूकी तरह शरण रूप।

अप्पडिहय—अनन्त काल तक रहनवाले—वर - उत्तम और प्रधान।

नाणदसग—ज्ञान दर्शन।

धराण—सम्पन्न।

वियट्टछउमाण—जिसका छद्मस्थ भाव चला गया है।

जिनाण—राग, द्वेप, कर्म जीतनवाले।

जावयाण—औरोंको राग द्वेप जितानेमे सहायक।

तिन्नाण—ससार समुद्रको तरनवाले।

तारियाण—अन्यके लिये संसार समुद्रका अन्त करानमे सहायक रूप।

बुद्धाण—सम्पूर्ण तत्वज्ञानको हस्त सिद्ध करनेवाले।

बोहियाण—अन्यको तत्वज्ञान समझानवाले।

मुत्ताण—कर्म बन्धनसे मुक्त होनेवाले।

मोयगाण—अन्यको बधनसे मुक्त करानेम सहायक होकर उसका मार्ग बतानेवाले।

सव्व नुण—सब कुछ जाननेवाले।

सव्वदरिसीण—सब कुछ देखनवाले।

सिव—उपद्रव रहित-आत्म-कल्याण

अयल—चलायमान नहीं होनवाला।

अरुज—रोग रहित।

अनन्त—अन्त विनाश रहित।

अक्खय—एक रस

अव्वाबाह—अव्याबाध पीड़ा रहित।

अप्पुणरावित्ति—उस स्थलसे पतन न हो।

सिद्धिगइ नाम धेय ठाण संपत्ताणं—सिद्धिगति नामक स्थानको पानेवाले।

नमो जिणाणं—सात भय जीतनेवाले

जिय भयाणं—तीर्थंकरको मेरा नमस्कार हो।

उपरोक्त नमोत्थुण अथवा किसी अन्य स्तवनादिसे जो कि प्रभुके गुणगानका सुन्दर सूचक हो उससे प्रभुके गुणगानके प्रति पूर्ण प्रेमसे करना चाहिये।

तीसरा आवश्यक

पडिवत्ति (वन्दना)

पवित्र पुरुषोंका गुण गाते-गाते उनके प्रति अपरिमित प्रेम पूर्ण बुद्धि उत्पन्न होनेपर स्वाभाविक रीतिसे नमन हो जाता है। वह वन्दना है।

महात्मा पुरुष यदि उपस्थित हों तो बहुमान पूर्वक उनके चरणोंमें मस्तक नवाकर उन्हें तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करना चाहिये।

और यदि वे उपस्थित न हो तो उन्हें अपने समक्ष उपस्थित समझ कर शान्त चित्तसे सम्पूर्ण धारणा करनी चाहिये, और उनका साक्षात्-स्वरूप खडा समझकर उनको प्रेम पूर्वक वन्दना करे।

वन्दना विधि—उनका दर्शन कल्याणकारी, मंगलकारी, समझकर उनको साक्षात् धर्मदेव मानकर ७-८ पद सन्मुख जाकर बाया गोडा ऊंचा रख कर, दहिना गोडा ज़मीनसे लगाकर दोनो हाथ जोड़कर, दहिने कानसे बायें कान तक प्रदक्षिणा करके, तीन वार अपना मस्तक नमाकर भावसे उनकी सेवा और भक्ति करनी चाहिये।

चतुर्थ-आवश्यक

स्खलियस्स निंदणा—(जिस समय प्रतिक्रमण करना हो, उस समयसे पूर्वकालमे अथवा उस दिन, जो जो दोष हुए हैं, जिन जिन योगों द्वारा स्वभाव-स्वभावसे स्खलना हुइ है विभावमे परिणमन हो गया हो, उसे पकडे बाद उसको शान्तभावसे दूर करना, और उसका पश्चात्ताप करते हुए उन दोषोंसे पीछा हट जाना।)

अ-देवसी राइसी प्रतिक्रमण—सवेरसे साझ तक कैसी ही स्खलना हो गइ है या नहीं, उसे सन्ध्या समय देखना 'देवसी प्रतिक्रमण है' और साझसे सवेर तक होनेवाली स्खलनाओंको स्मरण करके उनका अवलोकन करना 'राइ' प्रतिक्रमण है।

आ-पक्खी चौमासी और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण

पाक्खी—प्रतिक्रमण—यह सोचना कि गत पक्षमें इस पक्षमें कितना स्खलना हुई, और कितनी स्थिरता हुई। इसका जोड़ निकालना, इसी प्रकार चातुर्मासिक सांवत्सरिक विषयमें भी समझना चाहिये।

प्रभुके गुण करनेका 'साध्य' क्या है उसका भान होता है। उसे दर्शनपर यही होगा कि—सन्मार्गरूप पथ कहां और मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग युक्त यह मेरा चरित्र कहां ? स्वभाव दशा कहां और मेरमें प्रवर्तन करनेवाली विभाव दशा कहां ? अरर ! अब तकका परिश्रमण तो मात्र भ्रान्तिमें ही होता रहा।

ओ भ्रान्ति अज्ञान मोहदशा ! तेरे कुसंगके वशमें पड़ करमैं, जड़में ही सुख मान बैठा स्वार्थवश अनेक जीवोंको नाना प्रकारसे मैंने दुःख दिये।

असत्य—मिथ्या भाषणमें ही मैंने प्रवर्तन किया, अनेक बिर छोटी मोटी चोरी की। कई प्रकारका व्यभिचार सेवन करता रहा।

परिग्रह—इच्छाओंका किसी भी अंशमें निरोध करनेके समान प्रयत्न नहीं किया। बस ! अब तुझे अन्तिम प्रणाम है। अब मैं ——के आन्तरिक प्रभुकी आज्ञाके पालन करनेमें लगूंगा। जैसे बनेगा वैसे दश निकाला दूंगा, और योगात्माका । तब वह शुभयोगमें ही प्रवर्तित होगा।

अथवा—निम्न सूचनाओंको विचारना और उनके भावोंको पहुचनेके मार्ग जो कि मन, वाणी, कायके योग कटक रूप होकर आग पडे हुए हैं उनको प्रतिशोध करके निकाल डालना।

उसे शोधकर, उसकी निन्दा करके, उसके लिये अन्तरमें सची' अरुचि उत्पन्न करके, एसी प्रवृत्तिके लिये वास्तविक पश्चात्ताप* करके उससे दूर रहना और धर्म-ध्यानमे ही प्रवृत्ति कर कि—जिससे उसका भावको प्राप्त किया जा सके।

---

* भूल होनेपर ही पश्चात्ताप करना चाहिये और उस भूलका मूल कारण शोधकर, उसको निर्मूल करके फिर उस तरह भूल न होने पावे, इसलिये सजग होना चाहिये। परन्तु अपन जैसे तत्कालके नवीन विद्यार्थियोंको, प्रत्येक प्रवृत्तिके समय मोह दशाके कारण उस सूचनाके भावका भान नहीं रहता, इससे जब निवृत्तिका समय पाकर बैठते हैं और विचार करते हैं कि—आज क्या-क्या प्रवृत्तियें बनी है। उस समय अपना भाव सूचनाके अनुसार रहा या नहीं। उसका भान होता है। इसीसे सवर शाम प्रभुने प्रतिक्रमण करनेकी आज्ञा दी है। परन्तु उसमेंसे चढते चढते ऊंचा दशा प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। वह यह कि—प्रत्येक प्रवृत्ति तथा निवृत्तिके प्रसगपर प्रत्येक सूचनाके भावका भान रहे। यह दशा जब हासिल होगा तब आत्माका साक्षात्कार और निरीक्षण प्रतिक्षण होता रहेगा। तदनन्तर 'देवसी और राई प्रतिक्रमण' के नियम लागू न होंगे।

ज्ञान—अस्वाध्यायका काल छोड़कर एकाग्र चित्तसे, स्पष्ट उच्चारण द्वारा स्वाध्याय करना चाहिये, और अस्वाध्यायके समय ध्यान।

दर्शन—जहाँ तक देहभाव, अहंभाव सहन करनेकी इच्छा है वहाँ तक मिथ्यात्वको छोड़कर प्रभुकी आज्ञामें दृढ़ श्रद्धा रखना। यह सम्यक्त्व कहलाता है। अर्थात् आत्म दर्शन।

चरित्र और तप—प्रथम मन समान भाव—सब प्राणियोंको लोकमें आनन्द करनेका समानाधिकार है। इस अधिकारको छीनकर किसी भी प्रकारसे स्वार्थवश लोक, स्त्री सन्तान माता पिता, बहिन भाई, मित्र जाति, जन, सेवक, गाय, भैंस, घोड़ा पशु, पक्षी इत्यादिको अनेक भांतिके बन्धनोंमें डाल देते हैं। अतिचार-सेवन या अंगोपांग तक काट लेते हैं। उनके इच्छा मनको छेदने तकका बर्ताव करते हैं। उनकी शक्तिसे उपरान्त अनेक प्रकारके काम-काज और बोझ तक लादते हैं। कूटनीतिका व्यवहार चलाकर उन्हें अन्न पानी, आजीविका तकको अन्तराय डालते हैं। उनको आवश्यकतानुसार साधन और सुखसे विमुख रखते हैं। परन्तु उनके साथ इस तरह बर्ताव करनेका किसीको क्या हक है? इतने पर भी उन जीवोंकी हम फिर रक्षा करनेकी ढींढोरा पीटते हैं। यह तो अपना एक प्रकारका स्वार्थ हुआ। अतएव प्रत्येक जीवके प्रति अपना स्वार्थ बन्धन तोड़कर, उनके साथ एकताका बर्ताव करनेके लिये [illegible] भावना बनाकर उनकी कुमारीको पानेके लिये दिन रात [illegible] करना चाहिये।

भावना

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ति मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ॥

सब जीवोंकी अवज्ञाओंको मैं क्षमा करता हूं। हे सर्वजीवो! तुम्हारे प्रति जो कुछ मुझसे अपराध हो गया है उसे क्षमा करें। मेरा सब जीवोंसे मैत्री-भाव है। किसीके साथ वैर-भाव नहीं है।

इस भावनाको अहर्निश अन्तरमें रखकर व्यवहारमें प्रवर्तन कर, जिसके द्वारा अखिल विश्वके जीवोंके साथ ऐक्य-भाव प्राप्त होगा। ऐक्य-भावकी प्राप्ति होनेपर भेदभाव युक्त जड़भाव पुद्गल प्रेम नष्ट होकर सर्वत्र स्वस्वरूप ही भासमान होगा।

द्वितीय सत्यव्रत—मैं क्या बोलना चाहता हूं? वह भी किस लिये? उत्तरमें कहना होगा कि—सत्यकी शोधके लिये। या देहको निभानेके व्यवहारके लिये? बोलनेसे पूर्व यह विचार कर लेना चाहिये। असत्य पुद्गलके पंकमेंसे सत्य आत्माको निकाल कर उसका उद्धार कर लेना चाहिये।

तीसरा आचौर्य व्रत—मैं क्या क्रियाएँ कर रहा हूं? वह किसीके मालकी चोरी तो नहीं है? प्रत्येक क्रिया करनेसे पहले उसका विचार अवश्य करें। साथ-साथ यह विचार भी करे कि—चोरी किसकी करूं? सब जड़ है, क्षणिक है, यह किसी तरह सच्चा सुख देनेवाला नहीं है। आत्मिक खजाना लूटाये लुट नहीं सकता, और वह शुभ प्रयाससे प्राप्त होता है। परन्तु परवस्तु

पुद्गल कभी अपनी (चेतन) नहीं बन सकती। अतः उससे ममत्व रखना झूठा है।

ब्रह्मचर्य—स्त्रीका स्त्रीत्व और पुरुषका पुरुषत्व जड़ भाव है। यह मेरी समस्त शक्तिका नाश करनेवाली है। कायिक, मानसिक और आत्मिक शक्ति क्षय हो जाती है। उसमें लुब्धमान बनकर मैं जड़वत् बन जाऊंगा, और उसीमें अनेक जन्म जन्मान्तर तक सड़ना पड़ेगा।

स्त्रीको स्वपतिमें और पुरुषको स्वदारासन्तोषमें मग्न रहते हुए इस भावको प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये।

अपरिग्रह—जड़ भावपर प्रीति रखना परिग्रह है। यही बन्धन है, यही भिन्न भाव है। उसीसे संसारकी वृद्धि और भीषण कष्टोंका घर बन जाता है। इसे कम करनेवाला पुरुष सादा और सरल बनता है। उसका त्याग करनेवाला मुक्त होता है। अतः उसे कम करनेका प्रयास कर।

दिग्परिमाण—मैं कहां कैसी प्रवृत्ति करता हूं, यही विचार, दिशाका हद बांधना बांधना एक इष्ट स्थानको ही स्थिर करता है। सबको सब नहीं प्रवृत्तिका क्षेत्र संकुचित करते करते अन्तरकी और विरोधात्मिविरोध प्रवृत्त होता है।

उपभोग परिभोग—(प्रश्न)—मैं किसलिये खानपानादि पदार्थोंको उपयोगमें लेता हूं ?

उत्तर—शरीरका निर्वाह करनेके लिये।

पदार्थोंका परिमाण–(प्रश्न)—शरीरका निभाना ही किस लिये ?

उत्तर—शरीर एक अपने सकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सृष्टि है। अत उस उपाधिरूप प्रारब्धको भोगे बिना छुटकारा नहीं। इससे उसमे स्थित होकर, सम चित्तसे, उन सकल्पोंका फल पूर्ण रूपसे भोगनेके लिये, या भोगते समय जितनी समवृत्ति रक्खूगा, उतने ही प्रमाणमें हमको सुख या दु ख मालूम दे सकेंगे। सुख या दु खका भान मोह दशाके कारण जड भावके ऊपर है। इसका ज्यों-ज्यों परिणामका विश्वास होता जायगा त्यों-त्यो आत्माको जड-सत्ताका भान विशेष विशेष होता जायगा अत अपनी सृष्टिमेंसे मोह भावका उच्छेद करनेके लिये, यथाशक्ति शीघ्र ही पूरे जोशमे कमर कसो, मोहके उच्छेदके प्रमाणमे अपने स्वरूपका अनुभव होगा। रामका (आत्माको) अपने आनन्द स्वरूपमें मस्त रहनेके लिये रावण (मोह) का नाश करना चाहिये।

प्रश्न—शरीरको निभानेके लिये मैं किन किन पदार्थोंको उपभोगमें लू ?

उत्तर—जो पदार्थ शरीरका रक्षण करे, मनमें उन्माद पैदा न करे, सात्विक वृत्ति उत्पन्न करे, ऐसे पथ्य साद और प्रमाणमें भी अल्प पदार्थ लेना चाहिये।

प्रश्न—इन पदार्थोंको किस व्यापारसे प्राप्त करू ?

उत्तर—जिसमे अल्प आरभ हो, जिसमें अधिक समय मनकी समतोलन वृत्ति रह सके, जो अपने तथा अन्यके शरीर और

आजीविकाको अधिक नुकसान न पहुंचाता हो। थोड़ेमेंसे जिससे सबको न्यूनाधिक अशम लाभ हो सके ऐसे उद्योग व्यवसायसे मैं अपने एव अपने कुटुम्बके भरण-पोषणके लिये यह द्रव्य करूंगा।

अपने जीवनको सादा और सरल बनाकर प्रारब्धको भोग लूंगा।

अर्थसे लाभ और अनर्थसे दूर—आत्म स्वरूपमें ध्यान रहनेको अर्थ कहते हैं, और जड़ भावमें लीन रहनेको अनर्थ। इस अनर्थके कारण लोकमें दण्डित होना पड़ता है। गति आगति करनी पड़ती है। अतः इस दहके लिए की जानेवाली अनेक प्रवृत्तियोंमें आर्तरौद्र ध्यान रहित स्व भावमें रहना और प्रत्येक क्षण अन्तरमें यही दृढ़ता रखना कि—स्वभावमें परम आनन्द और विभावमें परम दुःख है।

आत्म-शान्ति पानेका प्रयास

थोड़े समयकी सामायिक—प्रथम शरीरको स्थिर करे। स्थिर शरीर रहनेसे सहजमें मौन रह सकता है। इसी प्रकार शरीर और वाणीकी स्थिरतासे शरीरका प्राणवायु स्थिर होता है। प्राणवायु स्थिर होनेसे दृष्टि और मन स्थिर होते हैं। दृष्टि और मन स्थिर रहनेसे परम शान्तिकी प्राप्ति होती ही है। उस परम शान्तिका प्राप्त करना ही सामायिक है। इन उत्तरोत्तर पेडियोंपर चढ़नेका प्रयास करना चाहिये।

आहार विहारकी नित्यकी योजना

देशावकाशिक—छठवां दिशा परिमाण व्रत और सातवां

उपभोग-परिभोगमें पदार्थोंका परिमाण व्रत सारे जीवनका आहार-विहारका बजट बांध देता है, और यह दसवां देशावत उनमेंसे नित्य-नित्यका बजट बांध देता है।

प्रवृत्तिका और निवृत्तका सारी जिन्दगीका बजट निश्चय करना और उसमेंसे प्रति दिनका, प्रति घंटोंका, प्रति मिनटका, प्रति सैकेण्ड का, जो भाग आवे उसमें उसी तरहका वर्ताव रखना।

आत्म-शान्ति पानेके लिये दिनभरका प्रयास

पौषध—आत्माको पोषणा—आत्माऽऽकारवृत्ति रखना या रखनेका प्रयास करना। पौषधमें २४ घण्ट आत्म-सम्मुख दृष्टि रखनेका प्रयास किया जाता है, परन्तु इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं करना चाहिये।

पवित्रदान वृत्ति—अतिथिमें महमान और भिक्षुका समावेश होता है। भिक्षु चाहे जिस वस्तुके मागनेवाला और चाहे जो हो। सन्त पुरुष भी भिक्षु कहलाते हैं।

किसी भी पाहुने या भिक्षुका प्रभुके तुल्य सम्मान करना अथवा सम्पूर्ण विवेक पूर्वक उनको आवश्यकतानुसार पदार्थ देना चाहिये। परन्तु उस समय पात्रता और अपनी स्थिति भी देखना चाहिये। श्रावकका द्वार अभग्न द्वार होता है। अत उसके द्वारसे कोई भिक्षु निराश होकर वापस न जाय, बल्कि अन्नादिक वस्तुओंसे या धनसे वचनसे, या किसी अन्य रीतिसे सन्तोष देकर लौटाया जाय।

अन्तिम समाधि—जो काम करो उसे निष्काम वृत्तिसे

कारण भासमान होता है। वास्तवमें देखा जाय तो उसका अस्तित्व तीन कालमें भी नहीं है। (इन भावनाओंमेंसे एक या सब, शांतचित्तसे स्मरणमें रक्खो और उनके अनुसार उपयोग करते चलो।

छठा आवश्यक

गुण धारणा

जो जो वस्तुएँ आत्म ध्यानमें हानिकर मालूम दें, उन वस्तुओं का मूल कारण शोधकर उन कारणोंका त्याग करो और ध्यानमें नियम पूर्वक प्रतिदिन वृद्धि करते चलो। नियम या प्रतिज्ञाएँ आत्म शान्तिको प्राप्त करनेके लिये साधन रूप हैं। जिस प्रसंगपर जिस साधनकी आवश्यकता प्रतीत होती हो उस समय उसका नियम करना उत्तम है। सन्मार्गमें प्रवेशकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुको निम्न लिखित नियम अपनी शक्ति तथा संयोगानुसार, अंगीकार करके अपनी सारी जिंदगीका बजट तैयार कर लेना चाहिये।

गृहस्थ धर्म

१ मुझे इस लोकमें कैसा जीवन व्यतीत करना चाहिये। उस

जीवनके लिये किन-किन साधनोंकी आवश्यकता है। उन साधनों को प्राप्त करनेके लिये कौनसा धंधा करना चाहिये। उन धंधोंको चलाते समय कैसा बनाव रखना चाहिये। वह धंधा कितने समय तक करना चाहिये, और बाकी समय किस प्रकार बिताया जाय, उसका निश्चय करे। यही गृहस्थका श्रुत और चरित्र धर्म है।

(१) ज्ञान—जिनमें अमुक समयमें नियमित रूपसे, प्रभुके कहे तत्त्व बोधका स्वाध्याय, श्रवण और मनन करना चाहिये, जन तत्त्वमें लोकालोकका सम्पूर्ण स्वरूप आ जाता है। उनके भेद भावमें अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार दृष्टि डालकर उसके तत्त्वको समझना चाहिये। इसीसे प्राप्त होनेवाले भावानुसार आत्माकी उज्ज्वलता होगी।

(२) दर्शन—उन तत्त्वोंको अपूर्व श्रद्धा भावसे मानना चाहिये।

(३-४) चरित्र और तप।

क—पांचवां व्रत।

अ—खेत, बाड़ी, बगीचा, इत्यादि उघड़ी हुई भूमि, तथा घर, दुकान आदि ढंकी जमीनकी।

आ—सोने चांदीकी।

इ—नकदीकी।

ई—धान्यकी।

उ—द्विपद, चतुष्पद प्राणीकी।

ऊ—भोग्य सामग्री आदिकी।

सादा और सरल जीवन बितानेके लिये सारे जीवनमें कितने

प्रमाणमें आवश्यकता है, उसका निश्चय करके उनकी सीमा बांधूंगा*।
(व्रत ४ वां) अ—स्त्री पुरुष।

पुरुषके लिये—(१) (मैं अपने विचार, स्थिति, साधनोंका चारों तरफ अवलोकन करके) एक ही स्त्री करूंगा। (एक पत्नी व्रत)।

(२) अपनी स्त्रीके साथ भी पशु वृत्ति न रक्खूंगा। अमुक नियम रक्खूंगा।

(३) अमुक संतति होनेपर (पुत्र पुत्री होनेपर) अथवा अमुक वय व्यतीत जानेपर सर्वथा ब्रह्मचर्यका पालन करूंगा।

स्त्रीके लिये—(१) मैं एक ही पति रक्खूंगा।

(२) अपने पतिको भी अपनेमें पशुवृत्ति रखनेसे रोकनेका काम करूंगी, और अमुक अमुक नियममें रहूंगी।

(३) अमुक सन्तति होनेपर या अमुक वयके बाद सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन करूंगी।

ब—सन्तान—(१) पुत्रको अमुक प्रकारकी शिक्षा दिलाऊंगी।

---

* खानपानादि तथा वस्त्रादिका जो परिग्रह मैंने रक्खा है। उसमेंसे मुझे अपने जीवन पर्यन्त कितने प्रमाणमें अपने उपयोगमें लेना है। उसका नियम करूंगा, और उसके द्वारा मिताहारी तथा नियमित बनूंगा। (व्रत ७ वां ब)

यह सभीको आवश्यकताके लिये निश्चित पदार्थोंमेंसे आज किन-किनको कितने प्रमाणमें उपयोगमें लेना है, जिसका निश्चय करूंगा।
(व्रत १० वां ब)

(२) पुत्रीको अमुक शिक्षा दिलाऊँगी क्योंकि दोनोंका व्यवहार अलग-अलग है। अत उनके विकासके लिये भी अलग-अलग शिक्षाकी आवश्यकता है।

(३) वे गृहसेवा, समाजसेवा, देशसेवा, धर्मसेवामें भाग लेना सीख ऐसी योजना करेंगे।

(४) उनका अमुक समयके बाद लग्न करायेंगे। स्वतन्त्र व्यवहार चलानेमें शक्तिमान होनेका विश्वास होने पर।

(५) उनके निवाह आदिमें उनको मात्र जिस मार्गमे लाभ होगा उसी मार्गमें वर्तन करायेंगे। व्यर्थक खर्चमें न पडेंगे। लोककी झूठी लज्जामें न वह जायेंगे।

ए—माता, पिता, भाई, बहन (१) उनका सन्मान बढ़ायेंगे।

(२) उनकी उचित सेवा करेंगे।

(३) संपकी रक्षाका प्रयत्न करेंगे।

ए—मित्र, स्वजन, सम्बन्धी (१) उनके साथ प्रेम बढ़े उसी प्रकार वर्तेंगे।

(२) व्यर्थ व्यय करके उनसे मौज न उडायेंगे।

(३) उनके साथ वार्तालाप, मान, अपमानादि व्यवहारमे ही न रुककर, एक दूसरकी उत्क्रान्ति, किस प्रकार बढ़े ऐसा प्रयत्न उपयोगमें लायेंगे।

ओ—गृहव्यवस्था (१) सबका कार्यक्रम ऐसा बना दिया जायगा जिससे वे सब उत्साह पूर्वक उनमें भाग ले सकें।

(२) घरमे स्वच्छता, खान पानादि पदार्थ सड विगड न जायें,

उनको दूर रख प्रवाही पत्रएँ कामके अतिरिक्त प्रसंगोंमें ढके रहें ऐसा ही प्रबन्ध तथा घरकी सामग्रीको ढक रख।

(३) रुचिकी रीतिसे, आलस्य बढ़ानेवाले पदार्थ, क्लेश, ईर्षा, बेईमानी, अपशब्दोंको जैसे बने वैसे घरमेंसे जल्दी निकाल बाहर करेंगे।

(४) दिनके अमुक समयमें सब एकत्र होंगे, और दिनचर्याके प्रसंगमें, नवीन प्रसंगके विषयमें वार्तालाप करेंगे।

(५) आपसकी सेवा, रोगीकी शुश्रूषा, अतिथि सत्कार, सत्समागम, परोपकार वृत्ति, किस प्रकार उदय पाकर बढ़े ऐसे मार्गकी योजना करेंगे।

औ—समाज धर्म—समाजके अन्धाधुन्ध रिवाजोंको बन्द करेंगे सुधारके फैलानेका प्रयास करेंगे। वे सुधार समाजके लिये आर्थिक शारीरिक और नैतिक लाभ कारक हैं या नहीं? इसका पहले पूरा विचार कर लेना चाहिये।

(२) इन सुधारोंकी पहल सब प्रथम अपने घरसे ही आरम्भ करेंगे। सन्मार्ग फैलानेका प्रयत्न करेंगे। सब अपनेसे गृह, मित्र, स्वजन, सम्बन्धी, जाति, देश, परदेश सब फैलाकर रहेंगे।

जिस प्रकार सेवा करनी चाहिये, इसकी योजना अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार सबको कर लेनी चाहिये।

स ७ वा प्रश्न—जीवनमें साधन प्राप्त करनेके लिये जिस उद्योगसे, मुझे, मेरे घरको, मेरे ग्रामको, मेरे देशको लाभ पहुंचेगा उस उद्योगमें मशगूल रहूंगा।

६ वा व्रत—वह उद्योग मुझे सारी दुनियामें किस जह्ग रह कर जीवन पर्य्यन्त करना चाहिये उसका निश्चय करना।

१० वां व्रत—जितना क्षेत्र उद्योगके लिये निश्चित किया है उसमें भी कितने भागमें आज प्रवृत्त रहूगा उसका निश्चय करूगा।

वह उद्योगमें अमुक-वर्षतक करूगा, इसके पश्चात्का जीवन शात अवस्थामें विताऊगा।

आठवां व्रत—मैं इसमें चिन्ता, कषाय मय विचारोंका और प्रमादका त्याग करके लगूगा। (झगडा, निन्दा, कुतर्क, हसी दिल्गी आदि न करूगा)

पहलाव्रत—व्यवहारमें और परमार्थमें, यत्नासे विचरूगा, जो बोलूगा, वही काम करूगा।

दूसराव्रत—सत्य बोलूंगा (जो बात जिस रूपमें जान सका हू, उसे उसी रूपमें कहूगा) या मौन रहूगा।

तीसराव्रत—जो वस्तु अन्यकी है उस वस्तुका मालिक बनना कभी पसन्द न करूगा।

बारहवां व्रत—अतिथि (भिक्षु, त्यागी, गृहस्थ) को अपने पाससे जिस ,किसी वस्तुके पानेकी इच्छा है उसका योग्य सत्कार करूगा। तन, मन, धन, वचनसे सेवा करूगा (वचना या यशके लिये नहीं बल्कि निस्वार्थ प्रेम जागृत करनेके लिये)।

नवा व्रत—समभाव प्राप्त करनेके लिये सदैव थोडा समय अवश्य स्वीकार करूगा।

ग्यारहवां व्रत—उस समय वृद्धि पाते-पाते एक दिन-रात सम-

जीवन उपदेश

जड़ सुख मां लुब्धाई, रहीने, तें तारु आतम खोयुं ।
लख चौरासी फरी फरीने, नाव मदर आवो थायु ।।
हीरो हाथे चढ़ेल हारीन, धूले लई मस्तक धोयु ।
हाथ हय हस हाय घस्ये शुं, थाय अन्तर त ना जोयु ।।
मात, तात, महोदय, सुतने, महिला थी मनडुं मोह्यु ।
चार दिवसना चटक-मटक मां, त तारु सघलु खोयु।।
अमृत अल्गु अध करीने, विष हलाहल त घोल्यु ।
मारन रूप मुक्ताफल मूकी धायलनी शूले चोल्यु ।।
परहर परवस्तु परमार्गी, जड मा नें जीवन खोल्यु ।
आ आतम अविनाशी सुखनो स्वामी गुरु गम थी जोयु ।।

मुमुक्षुने बोध

जाग जन । जाग जन मोह निद्रा तजी ।
घात निचार तूं क्यां थी आव्यो ।।
शब्द वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श तारे न थी ।
आप भूल्यो अरे अवर पाव्यो ।।
पर गुण पर हरी स्वगुण शोधी लई ।
योग्य उपयोगे जो स्वरूप तारु ।।
केशरी सिंह तू कैद मा क्यां पड्यो ।
मेल अज्ञान ने हु न मारु ।।
स्वप्न मां राजके रकनी स्थिति रही ।
जगत् मां सर्वने मूठ जाण्य ।।

आम अज्ञान थी अवनी मां आतमां।
सुपने दुख मोहांध मान्युं॥
रज्जु भोरींग त रातना रूप मां।
अर्क उदय पछी मूळ जाग्यु॥
मर्कट मूठे धान्यु ज्यांय सिंह मधु।
मोहनी छाक मां मौत मागुं॥
चेन नर चेन नर हेनकर ज्ञान थी।
वश कर इन्द्री मन मस्त हाथी॥
भ्रम-भगी सद्, क्षेम वासी थए।
लोभन दूर कर तृष्णा नाठा॥

सहायक

जैन हितेच्छु, आगमसारोद्धार, भावावश्यकके साथी लगकोंका उपकृत हूं। —सम्पादक।

वचनामृत

(१) संयम-गुणस्थानसे भूलकर असंयम-परस्थानमें आत्मा जाने लगे तब उपयोग द्वारा संयम गुणस्थानमें आत्माको ले आओ, क्योंकि भूलका पछतावा करना ही तो प्रतिक्रमण है।

(२) उदय भावमें अनादि कालसे है, अतः उस घरको छोड़कर क्षयोपशम भावमें खेलकर, छद्मस्थतासे अपना घर छोड़कर पर घर रूप उदय भावमें शून्य उपयोगमें आनेपर सचेत होकर आत्मा स्वस्वरूप सभाल कर अपना घर जो क्षयोपशम भाव है उसमें आकर बसनवाला भाव पंडित है।

(३) सर्व भोजनकी तृष्णासे रहित होनेपर अन्तरंग आत्म-स्वभावकी भावनाका अनुभव करते हुए संयम रूपी यात्राके निर्वाह-के अर्थ नीरागतासे निर्लेप आहार ग्रहण करनवाला भी परमार्थसे अनाहारी ही है।

(४) परद्रव्य संग रहित जीवका निर्मल स्वभाव ही शुद्ध उपयोग और परद्रव्यके प्रसंगमें जीवके मलिन स्वभावको अशुद्ध उपयोग कहते हैं।

(५) परद्रव्य मात्रकी निवृत्ति तथा परद्रव्य मात्रका परित्याग और आत्म द्रव्यकी रमणता ही चारित्र है।

(६) सब इन्द्रियोंमें रस इन्द्रिय प्रधान है, उसे काबू कर ? नहीं तो पाचों इन्द्रिया प्रबल हो जायगी, और उससे कर्मबंध होगा।

(७) श्रावक थोड़ा बोलता है, काम पड़नेपर बोलता है, चातुर्यता

(२२) विद्या, धर्म, सभ्यता और तन्दुरुस्ती देनेवाला ही असली पिता है।

(२३) धर्मका मूल सम्यक्त्व है।

(२४) पापका मूल मिथ्यात्व है।

(२५) सुखका मूल सन्तोष है।

(२६) ज्ञानका मूल सत्य अभ्यास है।

(२७) क्रोधकी औषधि क्षमा है।

(२८) मानकी औषधि नम्रता-विनय है।

(२९) मायाकी औषधि सरलता है।

(३०) लोभका औषध सन्तोष है।

(३१) भावतीर्थ—संसार सागरसे पार करनेवाली नौका है, और वह साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाके भेदसे चार तीर्थ है। उनके सहवासमें रहकर ज्ञान, दर्शन, चरित्रका पाना ही यात्रा है।

दृढ समकिती नर थोडला, शुद्ध-समकित सम नहीं कोय।
समकित विन चारित्र नहीं, चारित्र विन नहीं मोक्ष॥

विश्व व्यापक और अनन्त अथात्मक जैन सिद्धान्तके गूढ और गुप्त रहस्यको समझो। और सम्यक्त्वको प्राप्त करो, अर्थात् आत्म-दर्शन तथा आत्माका अनुभव सम्प्राप्त करो, और धर्मके नामपर होनेवाले झगड़े बखेडोंको छोडो। तथा श्रीवीतरागके अभेद मार्गमें प्रवेश करो। हमारी अन्तिम इच्छा यही है। इत्यलम्

❀ समाप्त ❀